'पिंजरे की मैना': स्त्री जीवन की पीड़ा और संघर्ष

["PLIGHT AND STRUGGLE OF WOMEN LIFE IN 'PINJARE KI MAINA']

एम. फिल. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध–प्रबन्ध

शोध निर्देशक

डॉ० ओमप्रकाश सिंह

शोधार्थी

प्रकाश दान चारण

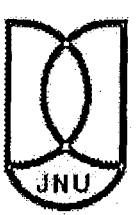

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

2010

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
School of Language literature & Culture Studies
New Delhi-110067

Centre of Indian Languages

Dated: 28th July 2010

DECLARATION

I declared that the work done in this Dissertation entitled "'PINJARE KI MAINA'- STREE JEEVAN KI PEEDA AUR SANGHARSH" [PLIGHT AND STRUGGLE OF WOMEN LIFE IN 'PINJARE KI MAINA'] by me is an original work and has not been previously submitted for any degree or any other University/Institution.

Prakash Dan Charan
(Research Scholar)

Dr. Omprakash Singh
(Supervisor)
CIL/SLL & CS/JNU

Prof. Krishnaswamy Nachimuthu
Chairperson
CIL/SLL & CS/JNU

स्वर्गीय काकोजी (पापा) को याद

करते हुए .. . .

अनुक्रमणिका

भूमिका

अध्याय प्रथमः हिन्दी आत्मकथा की अवधारणा और स्वरूप **1–29**

(क) आत्मकथा क्या है? 2–14

(ख) आत्मकथा के तत्व 14–20

(ग) आत्मकथा में जीवन 20–23

(घ) चन्द्रकिरण सौनरेक्सा और उनका सृजन संसार 24–29

अध्याय द्वितीयः पिंजरे की मैना : स्त्री का जीवन व रचना संघर्ष **30–61**

(क) सामाजिक संस्थागत संघर्ष 34–41

(ख) परिवेश एवं पृष्ठभूमिजन्य संघर्ष 41–48

(ग) पारिवारिक दायित्व का अर्थ संघर्ष 48–55

(घ) सृजन एवं प्रकाशन में विवशता का संघर्ष 55–61

अध्याय तृतीयः पिंजरे की मैना : स्त्री पीड़ा और विवशता का सच **62–86**

(क) प्रेम और विश्वास 66–74

(ख) विलासिता और उन्मुक्तता 74–81

(ग) वर्जनाएं और विवशता 81–85

(घ) समझौतावादी दृष्टि की विवशता 85–86

अध्याय चतुर्थः 'पिंजरे की मैना' और समकालीन स्त्री आत्मकथाएँ **87–115**

(क) 'एक कहानी यह भी' और 'पिंजरे की मैना' 91–101

(ख) 'अन्या से अनन्या' और 'पिंजरे की मैना' 101–110

(ग) 'गुड़िया भीतर गुड़िया' और 'पिंजरे की मैना' 110–115

उपसंहार **116–121**

ग्रंथानुक्रमणिका **122–126**

भूमिका

साहित्य में आत्मकथा एक ऐसी विधा है जो 'आत्म' और 'अन्य' को एक साथ साधने की क्षमता रखती है। लेखक को जितनी छूट आत्मकथा देती है शायद साहित्य की कोई दूसरी विधा नहीं। आत्मकथा जितनी लोकतांत्रिक विधा है उतनी ही परिवर्तनकामी भी। आत्मकथा के माध्यम से लेखक साहित्य की संस्कृति के साथ–साथ समाज की संस्कृति को भी बदलता है। आत्मकथा नैसर्गिक जिन्दगी की सहज–सरल शाब्दिक अभिव्यक्ति है। जीवन से सीधे सम्बद्ध होने के कारण आत्मकथा किसी एक विन्यास के बन्धन को स्वीकार नहीं करती। आत्मकथा को जैसे कोई भी लिख सकता है वैसे ही वह किसी भी रूप में लिखी जा सकती है। अनुभूत सत्य ही आत्मकथा का भावसौन्दर्य और सच कहने का साहस ही उसका कलात्मक सौन्दर्य है।

हिन्दी में आत्मकथा की कोई विकसित परम्परा नहीं रही है। साहित्यिक विधा के रूप में आत्मकथा के स्वरूप पर विचार–विमर्श की स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं है। कुछ लेखक आज भी साहित्यकार को आत्मकथा नहीं लिखनी चाहिए ऐसा कहते हुए देखे–सुने जाते हैं। आत्मकथा लेखन के विरुद्ध कोई परम्परा की दुहाई दे रहा है तो कोई दर्शन की। नकली सामाजिक छवि बनाने का प्रयास हर कोई कर रहा है। ऐसी स्थिति में स्त्रियों का आत्मकथा लेखन अपने आप में खास महत्व रखता है। आत्मकथा के माध्यम से लेखिकाओं ने 'स्त्री जीवन के संघर्ष' और 'विवशता' को अभिव्यक्ति दी है। स्त्री जीवन की समस्याओं और उलझनों को समझने के लिए आत्मकथा साहित्य के प्रति मेरा विशेष लगाव रहा है। पुरुष वर्चस्व के घेरे में बंद स्त्री का आत्मकथा लेखन मन बहलाव नहीं है बल्कि इसमें प्रतिरोध के प्रबल स्वर भी बखूबी सुने जा सकते हैं। जिस समाज में सच कहने के साहस की संस्कृति का अभाव रहा हो उसमें स्त्री द्वारा सच कहने का साहस करना भला कैसे कम महत्वपूर्ण हो सकता है?

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' स्त्री जीवन की पीड़ा और संघर्ष के मुद्दे पर एक नई बहस की शुरूआत है। 'पिंजरे की मैना' स्त्री के

रचना संघर्ष की ईमानदार अभिव्यक्ति है। साहित्य के क्षेत्र में गुमनामी के कगार पर खड़ी स्त्री द्वारा छियासी वर्ष की आयु में आत्मकथा लेखन क्या किसी प्रतिरोध से कम है? चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने अपनी आत्मकथा के माध्यम से स्त्री जीवन के किसी एक पक्ष को नहीं बल्कि समग्र स्त्री जीवन को सामने रखा है। चन्द्रकिरण की पीड़ा और विवशता में किसी एक स्त्री की नहीं अपितु पूरे स्त्री समुदाय की पीड़ा और विवशता झलकती है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा मुक्ति की छटपटाहट को दूसरे स्त्री आत्मकथाकारों की तरह मुद्दा नहीं बनाती हैं। वह पुरुष से मुक्ति नहीं बराबरी का साझा चाहती हैं। वह समाज से स्त्री को अलगाती नहीं, समाज के भीतर स्त्री की स्वतंत्र पहचान चाहती हैं। पिंजरे की मैना' के इस वैशिष्ट्य ने ही मुझे शोध के लिए प्रेरित किया है। आत्मकथा साहित्य के माध्यम से स्त्री जीवन के उलझावों को जानने–समझने की मेरी रुचि 'पिंजरे की मैना' पढ़ने के बाद तीव्र जिज्ञासा में बदल गई। स्त्री–जीवन की पीड़ा और संघर्ष के विविध आयामों को समझने के लिए मैंने लघु शोध–प्रबंध को चार अध्यायों में बाँटा है–

प्रथम अध्याय का शीर्षक "आत्मकथा की अवधारणा और स्वरूप" है, जिसमें क्रमशः चार उप अध्याय हैं–

(i) आत्मकथा क्या है?

(ii) आत्मकथा के तत्व

(iii) आत्मकथा में जीवन

(iv) चन्द्रकिरण सौनरेक्सा और उनका सृजन संसार

इस अध्याय में मेरी कोशिश आत्मकथा के समबन्ध में भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण के अन्तर को समझाते हुए भारतीय दृष्टिकोण से 'आत्मकथा के तत्व' और 'आत्मकथा में अभिव्यक्त जीवन' के बारे में विचार करने की रही है। चतुर्थ उप अध्याय में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के व्यक्तित्व और सृजन संसार का परिचय दिया गया है।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक ''पिंजरे की मैना' स्त्री जीवन व रचना संघर्ष'' है जिसमें क्रमशः चार उप अध्याय हैं–

(i) सामाजिक संस्थागत संघर्ष

(ii) परिवेश और पृष्ठभूमिजन्य संघर्ष

(iii) पारिवारिक दायित्व का अर्थ संघर्ष

(iv) सृजन एवं प्रकाशन में विवशता का संघर्ष

इस अध्याय में मैंने स्त्री–जीवन के संघर्ष और विवशता के सन्दर्भ में सामाजिक संस्थागत, परिवेश और पृष्ठभूमि, पारिवारिक उत्तरदायित्व के साथ–साथ रचनाकार के स्तर पर चन्द्रकिरण की सृजन और प्रकाशन की विवशता पर विचार किया है।

तृतीय अध्याय का शीर्षक '''पिंजरे की मैना' : स्त्री पीड़ा और विवशता का सच'' है। जिसमें क्रमशः चार उप अध्याय हैं–

(i) प्रेम और विश्वास

(ii) विलासिता और उन्मुक्तता

(iii) वर्जनाएँ और विवशता

(iv) समझौतावादी दृष्टि की विवशता

इस अध्याय में मेरा प्रयास लिंगभेद की समस्या पर विचार करने का रहा है। स्त्री के लिए बन्धन और पुरुष के लिए उन्मुक्तता के सामाजिक दर्शन की असलियत को समझने की कोशिश की गई है। साथ ही चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के व्यक्तित्व के माध्यम से समस्याओं से टकराने के स्थान पर समस्या को टालने की स्त्री मनोवृति पर भी विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय का शीर्षक '''पिंजरे की मैना' और समकालीन स्त्री आत्मकथाएँ: एक तुलनात्मक अध्ययन'' है। जिसमें क्रमशः तीन उप अध्याय हैं–

(i) 'अन्या से अनन्या' और 'पिंजरे की मैना'

(ii) 'एक कहानी यह भी' और 'पिंजरे की मैना'

(iii) 'गुड़िया भीतर गुड़िया' और 'पिंजरे की मैना'

इस अध्याय में मेरे शोध कार्य की विशिष्ट दिशा ''स्त्री जीवन की पीड़ा और संघर्ष'' को मद्देनज़र रखते हुए स्त्री आत्मकथाओं के बरक्स 'पिंजरे की मैना' के रचनात्मक वैशिष्ट्य को सामने लाने की रही। दूसरी आत्मकथाओं से तुलना करते समय 'पिंजरे की मैना' के कमजोर पहलुओं पर भी विचार किया गया है।

शोध कार्य के दौरान मेरी समस्या चन्द्रकिरण के साहित्य और आत्मकथा के सन्दर्भ में आलोचकीय राय को जानने की रही। मेरे गुरुवर को छोड़ हर जगह से मुझे निराशा ही हाथ लगी। आत्मकथा में लिखे वस्तु सत्य को जांचने–परखने की मेरी जिज्ञासा तुष्टि प्राप्त नहीं कर सकी। पुस्तकालयों में जाकर लिखित सामग्री प्राप्त करने की आशा हर बार निराशा में बदलती हुई दिखलाई पड़ी। शोध की कठिनाइयों पर विचार करते हुए मैंने महसूस किया है कि हाशिए पर पड़ी लेखिका पर जब शोध करना इतना कठिन हो सकता है तब उस लेखिका के लिए गुमानामी के दर्द को झेलते हुए जीना न जाने कितना कठिन रहा होगा।

शोध के बारे में मुझे नवीन दृष्टि देने वाले और दिशा दिखाने वाले श्रद्धेय गुरुवर डॉ. ओमप्रकाश सिंह का आभार शब्दों में कैसे प्रकट करूँ! मेरे गुरुवर के बहुमुखी व्यक्तित्व के आगे शब्द की शक्ति बौनी हो जाती है। मेरे इस शोध के अथ भी मेरे गुरुवर हैं और इति भी मेरे गुरुवर।

शोधकार्य करते हुए मित्र अष्टक (गणेश, दीनानाथ, मनीष, मीनाक्षी, सुखप्रीत, उमाशंकर, बिजय, योगेश) के साथ की गई अठखेलियाँ और गम्भीर मुद्दों पर विचार विमर्श ही मेरे लिए अमूल्य निधि रही है। कुछ ने शोध कार्य पहले पूरा कर चौंकाया तो कुछ अन्त तक साथ निभाने के वायदे पर अटल रहे। शोधकार्य से सम्बन्धित सामग्री उपलब्ध कराने में रीता और शोध लेखन को व्यवस्थित रूप देने में अरविन्द के सहयोग को कैसे भूल सकता हूँ! शोध के अन्तिम पड़ाव पर चन्द्रकान्त सिंह का जुड़ना बड़ा सुखदायी लगा। साहित्य का विद्यार्थी न होते हुए

भी मित्र अभय कुमार और शैलेन्द्र कुमार का शोर्ध कार्य से सम्बद्ध मेरे विचारों को साहस के साथ सुनना मुझे अंत तक आश्वस्त करता रहा। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के पुस्तकालय विशेष तौर पर 'डेलनेट' व्यवस्था का आभारी हूं जिसकी सहायता से मुझे शोध से सम्बन्धित पुस्तकें सहज ही प्राप्त होती रही।

परिवारजनों के बारे में धन्यवाद के दो शब्द कह कर औपचारिकता पूरी नहीं करना चाहता। आज जैसा भी हूँ, जो भी हूँ अपने परिवार के सहयोग और अगाध विश्वास के बल पर हूँ।

अपनी त्रुटियों के प्रति क्षमा याचना करते हुए 'तेरा तुझको अर्पण क्या लागे मेरा' के पवित्र भाव के साथ यह लघु शोध–प्रबन्ध रूपी सुमन ''माँ शारदे'' के चरणों में अर्पित करते हुए बेहद हर्षित महसूस कर रहा हूँ।

प्रकाश दान चारण
लोहित हॉस्टल
जे.एन.यू., नई दिल्ली–110067

अध्याय–प्रथम

हिन्दी आत्मकथा की अवधारणा और स्वरूप

(i) आत्मकथा क्या है ?

(ii) आत्मकथा में जीवन

(iii) आत्मकथा के तत्व

(iv) चन्द्रकिरण सौनरेक्सा और उनका सृजन संसार

हिन्दी आत्मकथा की अवधारणा और स्वरूप

(i) आत्मकथा क्या है?

'आत्मकथा' शब्द अंग्रेजी के 'आटोबायोग्राफी' का हिन्दी पर्याय है। 'आटोबायोग्राफी' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग जर्मनी में 1796 में हर्डर ने किया। भारत में 'आत्मकथा' विधा ब्रिटिश साहित्यिक संस्कृति के प्रभाव की उपज है। ब्रिटेन में 'आटोबायोग्राफी' शब्द के प्रयोग पर गौर करें तो राबर्ट साउथे ने 1809 ई. में सर्वप्रथम इसका प्रयोग किया। साहित्यकोश में आत्मकथा के बारे में लिखा गया है ''आत्मकथा लेखक के अपने जीवन से सम्बद्ध वर्णन है। आत्मकथा के द्वारा अपने बीते हुए जीवन का सिंहावलोकन और एक व्यापक पृष्ठभूमि में अपने जीवन का महत्व दिखलाया जाना सम्भव है।''[1]

आत्मकथा के विशिष्ट रूप को समझने के लिए इससे मिलती–जुलती अन्य साहित्यिक विधाओं के बरक्स इसे रख कर देखा जा सकता है। डायरी, संस्मरण, पत्र आदि विधाएं भी आत्मकथा के स्फुट रूप हैं। आत्मकथा में कथा अपनी होती है परन्तु वह सिर्फ अपने लिए नहीं दूसरों के लिए लिखी जाती है। बकौल पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' आत्मकथा में कथाकार अपनी खबर तो लेता ही है, अपनी खबर देता भी है। आत्मकथा के इसी स्वरूप को केन्द्र में रखकर डायरी, संस्मरण, जीवनी एवं पत्र साहित्य से इसके सूक्ष्म अन्तर को समझा जा सकता है। संस्मरण में आत्मकथ्य तो होता है परन्तु दूसरे के बारे में लिखा जाने के कारण वह आत्मकथा से भिन्न है। नितान्त अपने लिए लिखे जाने के कारण डायरी आत्मकथा नहीं हो सकती। 'जीवनी' आत्मकथा से इस अर्थ में भिन्न है कि वह किसी दूसरे व्यक्ति का जीवन चरित्र है जबकि आत्मकथा स्वयं द्वारा लिखा गया अपना जीवन चरित्र है। साहित्यकोश में आत्मचरित्र और आत्मकथा के सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है– ''आत्मचरित अथवा आत्मचरित्र हिन्दी में आत्मकथा के अर्थ में प्रयुक्त प्रारम्भिक शब्द है जो तत्त्वतः आत्मकथा से भिन्न नहीं हैं। एक सूक्ष्म अन्तर कदाचित् यह है कि आत्मचरित कहलाने वाली रचना किंचित विश्लेषणात्मक

[1] साहित्यकोश – (आज्ञाचक्र–आत्मकथा), पृ. 77

और विवेक प्रधान होती थी और अब आत्मकथा कही जाने वाली कृति अपेक्षया अधिक रोचक और सुपाठ्य होती है।''[2] कहानी, उपन्यास और निबन्ध भी आत्मकथात्मक शैली में लिखे जाते रहे हैं परन्तु उनमें अपने बारे में निर्भ्रान्त दृष्टि से लिखने के लिए न अवसर होता है और न आवश्यकता। संस्मरण, डायरी, जीवनी, पत्र आदि आत्मकथा से मिलते साहित्यिक रूपों के होते हुए भी आत्मकथा एक स्वतंत्र गद्य विधा है जिसकी साहित्य में अपनी अलग पहचान है।

आत्मकथा क्या है? इस पर विचार करते समय एक बड़ा ही संगत प्रश्न उठता है कि आत्मकथात्मक साहित्य क्यों लिखा जाता है ? इस प्रश्न पर साहित्यकोश में दो दृष्टिकोण से विचार किया गया है। आत्मकथा की संरचना और उद्देश्य को समझने की दृष्टि से उक्त विचार महत्त्वपूर्ण हैं – ''एक प्रकार के आत्मकथात्मक साहित्य का उद्देश्य होता है आत्मनिर्माण, आत्मपरीक्षण या आत्मसमर्थन, अतीत की स्मृतियों को पुनर्जीवित करने का मोह या जटिल विश्व के उलझावों में अपने आपको अन्वेषित करने का सात्त्विक प्रयास। आत्म–सम्बधी साहित्य लिखने का एक दूसरा उद्देश्य यह भी है कि लेखक के अनुभवों का लाभ अन्य लोग उठा सकें। महान ऐतिहासिक आन्दोलनों और घटनाओं के सम्पर्क में रहने से डायरी, संस्मरण या आत्मकथा लेखक को यह आशा होना स्वाभाविक है कि आगामी युगों में उसकी रचना उसके युग तथा समाज के प्रमाणरूप में पढ़ी जायेगी। यदि धर्म, राजनीति अथवा साहित्य के इतिहास निर्माण में किसी व्यक्ति का महत्वपूर्ण हाथ रहा हो तो अवश्य ही पाठक उस व्यक्ति के बारे में उसकी लिखी बातों को पढ़ना पसन्द करेंगे। इन दोनों स्वतः सिद्ध उपयोगों के अतिरिक्त आत्मकथा लेखन के मूल में फलात्मक अभिव्यक्ति की प्रेरणा भी हो सकती है और अपनी पद–मर्यादा अथवा ख्याति से लाभ उठाने की शुद्ध व्यावसायिक इच्छा भी।''[3]

कविता, कहानी, उपन्यास, संस्मरण आदि साहित्यिक विधाओं की रचना अगर आत्मकथांश को छोड़ दे तो, परकाया प्रवेश के द्वारा परघटित को स्वानुभूत

---

[2] साहित्यकोश – (आज्ञाचक्र–आत्मकथा), पृ. 77
[3] वही

बनाकर की जाती है जबकि आत्मकथा में स्वघटित ही स्वानुभूत होता है। यही आत्मकथा का वैशिष्ट्य है। गरिमा श्रीवास्तव के शब्दों में ''आत्मकथा लेखन एक तरह से स्वकाया में पुनःप्रवेश है।''[4]

आत्मकथा की सामाजिक उपयोगिता और साहित्यिक सौन्दर्य के बारे में पंकज चतुर्वेदी का विचार है ''आत्मकथा सबसे अधिक लोकतांत्रिक गद्य विधा है, जिसे कोई भी लिख सकता है और कैसे भी लिखी जा सकती है। आत्मकथा की यह सरलता ही उसे अधिक परिवर्तनकामी बनाती है। आत्मकथा में दोहरी क्रान्ति लाने की शक्ति होती है। वह साहित्य की संस्कृति को भी बदलती है तथा समाज की संस्कृति को भी।''[5] अपने बारे में लिख देने भर से आत्मकथा नहीं हो जाती है। मैं–मैं–मैं का अर्थ आत्मकथा नहीं होता है। अगर आप अपने को नये सन्दर्भों में, नये समय की नई चुनौतियों के सामने 'लोकेट' नहीं करते और पाठक के सामने एक भी खिड़की नहीं खुलती कि यह काम कैसे किया जा सकता है, तब तक आत्मकथा का कोई अर्थ नहीं होता। प्रो. मैनेजर पाण्डेय 'मैं' की संस्कृति को आत्मकथा के लिए खतरनाक बताते हुए लिखते हैं ''कुछ लोग आत्मकथा इसलिए लिखते हैं कि जीते जी वे अपना ताजमहल बनवाना चाहते हैं। आत्मकथा लेखन यदि स्मारक निर्माण है तो जाहिर है कि वह जीवित चीज नहीं होगी और वहां जाने के बाद हर किसी की इच्छा मर जाने की होगी जीने की नहीं।''[6]

आत्मकथा के सन्दर्भ में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने आत्मकथा की प्रगतिशील व्याख्या इस प्रकार की है– ''आत्मकथा किसी व्यक्ति की जीवन यात्रा होती है। ... यह जीवन यात्रा तभी समाज के लिए उपयेागी होगी जब उस यात्रा कथा में पाठक को समाज या युग या मनुष्य का वर्णन रसमय और वास्तविक रूप से प्रतिबिम्बित मिले। उसे पढ़कर पाठक उन बुराइयों के प्रति सचेत हो जो समाज को पिछड़ापन देती है।''[7]

---

[4] आलोचना (अक्टूबर–दिसम्बर 2009)– (सम्पादक नामवर सिंह) गरिमा श्रीवास्तव का प्रकाशित लेख ''प्रतिरोध की संस्कृतिः स्त्री आत्मकथाएं'', पृ. 95

[5] आत्मकथा की संस्कृति, (आत्मकथा क्यों), पंकज चतुर्वेदी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 08

[6] समयान्तर, सं. पंकज बिष्ट, अक्टूबर, 2004, पृ. 28

[7] 'पिंजरे की मैना', चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, भूमिका

आत्मकथा अपने आपको समझने की ओर उन्मुख एक सच्चा और गम्भीर आत्मपरीक्षण है। आत्मकथा में आख्यान और विवेक, इतिहास और चिन्तन साथ–साथ चलते हैं। आत्मकथा एक सोचे समझे व्यक्तिगत इतिहास के रूप में, किसी की जिन्दगी को कोई खास औचित्य और अर्थ प्रदान करने की पद्धति है। आत्मकथा जीवन की सार्थकता की चाह और खोज का साहित्यिक रूप है। उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द आत्मकथा की इसी विशिष्टता को उद्‌घाटित करते हुए लिखते हैं– "एक आदमी अपने जीवन के तत्व आपके सामने रखता है, अपनी आत्मा के संशय और संघर्ष लिखता है, आपसे अपनी बीती कहकर अपने चित्त को शान्त करना चाहता है, आपसे अपील करके अपने उद्योगों के औचित्य पर राय लेना चाहता है।"[8]

आत्मकथा में व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति होती है। यही कारण है कि प्रत्येक आत्मकथाकार के सामने सामाजिक मुखौटा और व्यक्तिगत ईमानदारी का द्वन्द्व होता है। आत्मकथा में अपने को अपने से अलगाकर उस भावभूमि पर ले जाना पड़ता है जहां 'अज्ञेय' के शब्दों में कहें तो "जो मेरा है वही ममेतर है" की अद्वैत स्थिति हो जाती है।

आत्मकथा को आत्मा की कथा के रूप में देखते समय यह देखना जरूरी होता है कि उसमें किस आत्मा की आवाज है? बेचैन आत्मा की या आश्वस्त आत्मा की। संघर्षों में विकसित आत्मा बेचैन होती है और सुविधाओं में पली आत्मा आश्वस्त होती है। राजेन्द्र यादव आत्मकथा में आत्मकथ्य की अभिव्यक्ति पर विचार करते हुए लिखते हें– "मैं श्रेष्ठ आत्मकथा का एकमात्र गुण मानता हूँ उन अंतरंग, अनछुए और लगभग अकथनीय प्रसंगों का अन्वेषण जो व्यक्ति की कहानी को विश्वसनीय और आत्मीय बनाते हैं।"[9]

---

[8] पंकज चतुर्वेदी, आत्मकथा की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, पृ. 14

[9] हंस (राजेन्द्र यादव), जुलाई 2004, मैनेजर पाण्डेय का लेख 'सार्वजनिक चौराहों पर व्यक्तिगत चेहरे', पृ. 33

हिन्दी आत्मकथा की क्षीण परम्परा

न केवल हिन्दी अपितु भारतीय साहित्य में आत्मकथा जैसी विधा का विकास बहुत देर व बहुत धीमी गति से हुआ है। यह माना जाता है कि आत्मकथा पश्चिम की देन है पर पाश्चात्य संस्कृति और भारतीय संस्कृति में आत्मकथा को लेकर दृष्टिकोण की अत्यधिक भिन्नता है। पश्चिम में आत्मकथा के स्वीकार और सफलता की संस्कृति रही है। भारत में आत्मकथा के विरोध अथवा उसके अस्वीकार की संस्कृति रही है।

भारतीय साहित्य में आत्मकथा जैसी विधा के अभाव के लिए भारतीय दर्शन का सिद्धान्त व सामाजिक मान्यताएं भी उत्तरदायी हैं। आत्मविज्ञापन और आत्मकथा को एक समझने का अतिरिक्त विवेक भी आत्मकथा की संस्कृति के निर्माण में बाधक रहा है। 'अनामता' का ढिंढोरा व ''जो परम्परा में नहीं, वह वर्तमान में क्यों'' वाली मानसिकता ने भी आत्मकथा को विकसित नहीं होने दिया।

भारतीय दर्शन का सिद्धान्त है कि आत्मा–परमात्मा का अंश है। आत्मा अजर है अमर है। आत्मा की अपनी पृथक् विशिष्टता नहीं है। जीवन को नश्वर कह कर परिवर्तन को माया का नाम या रूप दिया जाना भारतीय दर्शन का अचूक हथियार है। जब आत्मा विशिष्ट नहीं है तो आत्मकथ्य में विशिष्टता कहां से आयेगी? इस प्रकार भारतीय दर्शन आत्मकथा की विशिष्टता को एक सिरे से नकार देता है जबकि विशिष्टता के अभाव में आत्मकथा लिखने व पढ़ने का कोई औचित्य ही नहीं रह जाता है।

दर्शन से प्रेरित भारतीय समाज में व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को वर्ण और आश्रम के ढांचे से जकड़ दिया जाता है। सब कुछ पूर्व तथा पूर्ण निर्धारित कर दिया जाता है। यहां व्यक्ति के व्यक्तित्व की विशिष्टता के लिए कोई स्थान नहीं। सामाजिक मापदण्डों में निमित्त बने मनुष्य में आत्मकथा लिखने की प्रेरणा कहां से आयेगी?

यद्यपि भारतीय साहित्य में 'अनामता' के सिद्धान्त का पालन कभी नहीं हुआ है। अनेक प्रसंगों में रचनाकारों ने न केवल अपना अपितु अपने वंश तक का परिचय दिया है। 'अनामता' को छिपाने के लिए नहीं अप्रिय सच को छिपाने के लिए भारतीय परम्परा का हिस्सा रही है। भारतीय साहित्य में 'आत्मकथ्य' कहीं गर्वोन्नति के रूप में तो कहीं विनम्रता के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। संस्कृत साहित्य के कालिदास, भवभूति, जयदेव के साहित्य को इसके प्रमाण के रूप में देखा जा सकता है। 'हर्षचरित' सम्राट हर्षवर्धन की जीवनी है। बाणभट्ट ने इसमें अपना परिचय आत्मकथ्य की भांति दिया है। प्रसिद्ध विद्वान दण्डी ने अपनी रचना 'दशकुमारचरित' और 'अवन्ति सुन्दरीकथा' में अपने जीवन के बारे में स्पष्ट जानकारी दी है। इस सन्दर्भ में पुष्ट प्रमाण के रूप में दक्षिण भारतीय कवयित्री विज्जका की गर्वोक्ति को भी देखा जा सकता है। वे लिखती हैं– ''दण्डी (प्रसिद्ध आलोचक) मुझे जानते नहीं थे अन्यथा यह बात कभी न कहते कि काव्य की देवी सरस्वती गौर वर्ण की थी।''[10]

आत्मकथा को लेकर उठी बहस में ''जो परम्परा में नहीं वो वर्तमान में क्यों? (नन्द दुलारे बाजपेयी) के पीछे 'अनामता' की दुहाई एक बार फिर चल पड़ी। जिसके बल पर आत्मकथा लेखन को अनावश्यक और परम्परा विरोधी कहा जाने लगा। प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने 'अनामता' की ओट में जीवन सच को कहने से किनारा करने वालों को आत्मकथा के लिए खतरनाक बताते हुए लिखा है– ''जहाँ जीवन की अश्लीलता को शालीनता की चादर से ढककर जीने को ही सभ्यता माना जाता है, वहां बड़े लोगों के बारे में सच कहने सुनने की आदत कैसे होगी? हिन्दी में आत्मकथा और जीवनी लेखन की दुर्दशा का मुख्य कारण यहाँ व्यक्तिगत जीवन की सच्चाई कहने के साहस का और सहने की आदत का अभाव भी है।''[11]

हिन्दी के प्रथम आत्मकथाकार बनारसीदास जैन ने 'अर्धकथानक' (सन 1641) में नौ चीजें न बताने की भारतीय परम्परा का रोचक उल्लेख किया है–

---

[10] पंकज चतुर्वेदी, आत्मकथा की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, पृ. 41

[11] हंस, (सं. राजेन्द्र यादव), जुलाई 2004, मैनेजर पाण्डेय का लेख ''सार्वजनिक चौराहों पर व्यक्तिगत चेहरे'', पृ. 31

''आउ वित्त निज गृहचरित, दान मान अपमान।
औषध मैथुन मन्त्र निज, ए नव अकह–कहान।''

(बनारसी दास जैन, अर्धकथानक, दोहा संख्या 460, पृ. सं. 51)

इसी की दुहाई देते हुए वे लिखते हैं कि जहां लोग अपने बारे में कुछ नही बताते ऐसे में मैंने जो कुछ भी बताया है वही काफी है।

विडम्बना है कि हम पूर्व जन्म के कर्मों में विश्वास कर लेते हैं। (जिसका न कोई प्रमाण होता है और न ही स्मृति) और इस जन्म के ब्यौरे रखना तथा लिखना हमें बेकार तथा परम्परा–विरुद्ध जान पड़ता है। आत्मकथा की संस्कृति के अभाव के लिए इतिहास दृष्टि का न होना भी एक कारण है। हम यह भूल जाते हैं कि आत्मा का इतना विसर्जन किसलिए, कि इसका इतिहास ही न रहे। आत्मकथा में केवल आत्मकथ्य ही नहीं होता, पूरा समाज होता है। अपने किये और भोगे हुए के लिए केवल हम ही जिम्मेदार नहीं होते हैं। वह पूरा समाज भी उसके लिए उतना ही उत्तरदायी होता है जो हमारे भीतर है और बाहर भी। आत्मकथा में आत्म का महत्व है पर हर समय आत्म ही महत्वपूर्ण नहीं रहता। आत्म के बहाने समय और समाज की कहानी भी महत्वपूर्ण हो जाती है। आत्मकथा में साहित्य और इतिहास के मेल के सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का विचार है– ''ऐतिहासिक महाकाव्य, काव्य वर्णनात्मक वीरगाथाएं आदि बाह्य जगत के तथ्य से निर्लिप्त रह सकती, पर उपन्यास इनमें सबसे अधिक तथ्याश्रयी है। इससे थोड़ा ही सटा हुआ तथ्योन्मुख साहित्य आत्मकथा का है, जिसका एक पैर साहित्य में और दूसरा इतिहास में होता है।''[12]

आत्मकथा की क्षीण परम्परा पर गौर करें तो आत्मकथा और आत्मविज्ञापन को एक समझने का भ्रम भी आत्मकथा के विकास में बाधक रहा है। नन्द दुलारे वाजपेयी जैसे आलोचक इसी भ्रम के शिकार हुए थे। तभी तो वे ''जो परम्परा नहीं वह वर्तमान में क्यों'' की दुहाई देते हुए कहते हैं कि ''आत्मप्रेरणा और आत्मकथा का नाम लेना पाखण्ड है तथा इसके लिए लिखना पाखण्ड को बढ़ाना है।''[13]

---

[12] पंकज चतुर्वेदी, आत्मकथा की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली से उद्धृत, पृ. 20
[13] वही, पृ. 37

वाजपेयी जी यह भूल गये कि परम्परा में अन्य बहुत सी साहित्यिक विधाएं भी नहीं हैं फिर भला उनका स्वीकार क्यों? गद्य की ऐसी कौन सी विधा है जो वर्तमान रूप में शुद्ध भारतीय परम्परा का विकास है। उपन्यास की पूर्वपरंपरा और किस्सागोई की पद्धति को त्याग कर प्रेमचन्द उपन्यास सम्राट कैसे हो गये? आत्मकथा के रूप को परम्परा विरोधी तथा विदेशी प्रभाव की उपज कहना अपनी कमजोरी को छिपाने के लिए तर्क के स्थान पर कुतर्क गढ़ना ही कहा जायेगा। किसी से प्रभावित होना या किसी रूप को आत्मसात करना मनुष्य की कमजोरी नहीं उसकी ताकत है। इस सन्दर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचार अधिक सटीक हैं– "प्रभाव तो मनुष्य पर तब तक पड़ता है जब तक उसमें जीवन है।"[14] वैसे भी देने और लेने के मामले में व्यक्ति को विवेक की शरण में जाना चाहिए, संस्कारों की नहीं। नामवर सिंह के शब्दों में – "अपना लेने पर कोई चीज परायी नहीं रह जाती है, बल्कि अपनी हो जाती है।"[15]

आत्मकथा के विकास में बाधा स्वरूप एक तथ्य यह है कि सामाजिक छवि और व्यक्तित्व की सच्ची अभिव्यक्ति के बीच द्वन्द्व हमेशा रहा है। हमारे यहां सामाजिक छवि बनाने का भूत इस प्रकार सवार है कि हर व्यक्ति अपने न जाने कितने रूप – जो परस्पर विरोधी होते हैं– साथ लेकर चलता है। जहां सामाजिक छवि बनाने या बनाये रखने का भाव प्रधान रहा है वहां आत्मकथा जैसी विधा का विकास कैसे संभव हो? अगर ऐसी स्थिति में आत्मकथा जैसी विधा आरम्भ भी हुई तो व्यक्तित्व की निष्कपट अभिव्यक्ति को दबाकर अपना स्मारक बनाने के अर्थ एवं उद्देश्य के लिए। भारतीय साहित्य में अगर किसी ने अपने जीवन की कमजोरियों का जिक्र भी किया तो वह भी तब जब उसकी कमजोरियां व्यक्तित्व की महानता को बढ़ाने में सहायक बनी। गांधी अपनी कमियों को तब उजागर करते हैं, जब वे मोहनदास कर्मचन्द से 'महात्मा' बन गये। पाठक भी मोहनदास को 'महात्मा' के रूप में ही पढ़ रहे होते हैं। गांधी जी की आत्मकथा बताती है कि वे अपनी कमियों को दूर कर महान बन गये। वे मानव के स्तर से महामानव या देवत्व के

---

[14] पंकज चतुर्वेदी, आत्मकथा की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली से उद्धृत, पृ. 32
[15] वही, पृ. 32

स्तर पर पहुंच गये। उनकी आत्मकथा यह नहीं बता पाती है कि कुछ मानवी कमजोरियों के रहते हुए भी वे इतने महान बन गये। व्यक्तित्व की कमियों से शुरू करके कमियों के साथ अपनी कथा को समाप्त करने का साहस बेचन शर्मा 'उग्र' ने किया। इस दृष्टि से 'अपनी खबर' अपना स्मारक बनाने की संस्कृति से मुक्त होने का प्रथम प्रयास है।

'अर्धकथानक' (बनारसीदास जैन) को हिन्दी की प्रथम आत्मकथा माना जाता है। इसका प्रकाशन वर्ष सन् 1641 ई. है। 'अर्धकथानक' न तो पूर्व से चली आ रही परम्परा का विकास है और न ही इसको आधार मानकर हिन्दी में आत्मकथाएं लिखी गईं। 'अर्द्धकथानक' पद्यात्मक है जबकि आधुनिक आत्मकथा एक गद्य विधा है। अर्द्धकथानक की परम्परा के विकसित न होने का एक कारण उसका पद्यात्मक ढांचा भी हो सकता है। पद्य का रचनाविधान शायद आत्मकथा के अनुकूल नहीं है। आत्मकथा की सफलता के लिए कथ्य की निर्भ्रान्त और स्पष्ट अभिव्यक्ति पहली शर्त है जो गद्य में अधिक संभव है। गद्य विधा के कारण आत्मकथा भावात्मक कम और विचारात्मक अधिक बन पाई है। इस दृष्टि से हिन्दी की वास्तविक प्रथम आत्मकथा, जिससे एक नयी परम्परा विकसित हुई, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र द्वारा लिखित ''कुछ आप बीती, कुछ जग बीती'' है। ''कुछ आप बीती, कुछ जग बीती'' शीर्षक सही अर्थों में आत्मकथा की संरचना और उद्देश्य का सूचक है। 'कुछ आप बीती' से आत्मकथा में आत्मकथ्य और 'कुछ जग बीती' से सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति को समझा जा सकता है। आत्मकथ्य और सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति के मिश्रण से ही आत्मकथा की पाठक के लिए एक उपयोगिता बनती है। केवल आत्मकथ्य के सहारे आत्मकथा के रचनात्मक उद्देश्य की निर्मिति संभव नहीं। पाठक का 'इन्ट्रेस्ट' इस बात में नहीं है कि आप क्या हैं? पाठक का इन्ट्रेस्ट आप ऐसा कैसे बने? इस प्रक्रिया को जानने में है। निर्माण की इस प्रक्रिया को समझने के लिए व्यक्ति के सामाजिक परिवेश को जानना जरूरी होता है। व्यक्तित्व का विकास सामाजिक द्वन्द्व और परिस्थितियों के घात–प्रतिघात से होता है। पाठक आत्मकथाकार के सुख, ऐश्वर्य और विलास से

प्रेरित नहीं होता, वह प्रेरित होता है संघर्ष की स्मृतियों से, जो उसे भविष्य में संघर्ष के लिए तैयार करती है। भारतेन्दु की आत्मकथा ''कुछ आप बीती, कुछ जग बीती'' आत्मकथा के उस मूल सिद्धान्त पर आधारित है जिसके अनुसार आत्मकथा में कथा अपनी होती है पर सबके लिए होती है। भारतेन्दु के बाद हिन्दी की आरम्भिक आत्मकथाओं में अम्बिकादत्त की ''निजवृत्तान्त'' और स्वामी श्रद्धानंद की ''कल्याण मार्ग का पथिक'' परिगणित की जाती है।

कालान्तर में अनेक सम्बद्ध और स्फुट आत्मकथाएं हिन्दी में लिखी जाती रही। सम्बद्ध रूप से लिखी आत्मकथाओं में श्यामसुन्दर दास की 'मेरी आत्म कहानी' (1941) और राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' (1947) प्रमुख हैं। राजेन्द्र बाबू की आत्मकथा उनके जीवन की कथामात्र न होकर समस्त समकालीन घटनाओं व्यक्तियों और आन्दोलनों का इतिहास भी है। स्फुट निबन्धों के रूप में लिखे गये महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'दंड देव का आत्म निवेदन', गुलाबराय के 'मेरी असफलताएं', सियारामगुप्त के 'झूठ–सच', 'बाल्यस्मृति' आदि निबन्धों में स्वाभाविकता, सहृदयता और निष्कपट आत्मप्रकाशन के गुण विद्यमान हैं।

आत्मकथा की संस्कृति के विकास में महात्मा गांधी की आत्मकथा 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' (1925), स्वामी दयानंद की 'जीवन चरित्र' (1860 ई.), भाई परमानंद की 'आपबीती' (1921 ई.), श्याम सुन्दर दास की 'मेरी आत्मकहानी' (1941 ई.), राहुल सांकृत्यायन की 'मेरी जीवन यात्रा' (1946 ई.), डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' (1947 ई.), वियोगी हरि की 'मेरा जीवन–प्रवाह' (1948 ई.), सेठ गोविन्ददास की 'आत्मनिरीक्षण' (तीन भाग 1958 ई.), पाण्डेय वेचन शर्मा 'उग्र' की 'अपनी खबर' (1960 ई.), आचार्य चतुर सेन शास्त्री की 'मेरी आत्मकहानी' (1963 ई.), भवानीदयाल सन्यासी की 'प्रवासी की आत्मकहानी' (1939 ई.), हरिवंशराय बच्चन की 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' (1969 ई.), 'नीड़ का निर्माण फिर' (1970ई.), 'बसेरे से दूर' (1978 ई.), 'दशद्वार से सोपान तक' (1985 ई.), डॉ. देवराज उपाध्याय की 'यौवन के द्वार पर' (1970 ई.), वृन्दावन लाल वर्मा की 'अपनी कहानी' (1970 ई.), रामविलास शर्मा की 'घर की बात' (1983 ई.), यशपाल

जैन की 'मेरी जीवन धारा' (1987 ई.), अमृत लाल नागर की 'टुकड़े–टुकड़े दास्तान' (1986 ई.), डॉ. नगेन्द्र की 'अर्धकथा' (1988 ई.), राजेन्द्र यादव की 'मुड़–मुड़ कर देखता हूँ' (2001 ई.), भीष्म साहनी की 'आज के अतीत' (2003 ई.), नामवर सिंह की 'जीवन क्या जिया' (तद्भव में 2000 ई. में प्रकाशित) जैसी आत्मकथाओं की विशिष्ट भूमिका है।

'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' में महात्मा गांधी ने अनुभव से शिक्षा ग्रहण करने के सिद्धान्त के अनुसार अपनी व्यक्तिगत कमजोरियों पर विजय पाने की कथा कही है। यशपाल जैन की आत्मकथा 'मेरी जीवन धारा' में उनके गांधीवादी विचार तथा स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर आज तक के भारत पर एक पत्रकार की दृष्टि से देखा समझा गया सच अभिव्यक्त हुआ है। रामविलास शर्मा की आत्मकथा 'घर की बात' में उनके परिवार के सौ वर्षों का इतिहास उजागर हुआ है। 'मेरी फिल्मी आत्मकथा' में बलराज साहनी के अपने फिल्मी जीवन के संघर्ष की कहानी है। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की आत्मकथा 'अपनी खबर' हिन्दी की विशिष्ट आत्मकथाओं में से एक है। इसमें 'उग्र' ने अपने परिवार की समस्याओं तथा अपने व्यक्तित्व पर ईमानदारी से लिखा है। उग्र की सपाटबयानी ने हिन्दी आत्मकथा के लिए राह दिखाने का काम किया। अमृतलाल नागर की आत्मकथा 'टुकड़े–टुकड़े दास्तान' में व्यक्तिगत जीवन के साथ–साथ आधुनिक भारत का सांस्कृतिक जागरण जीवन्त रूप में अभिव्यक्त हुआ है। हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा के चारों भागों में, आरम्भिक जीवन संघर्ष, इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उनके अनुभव, कैम्ब्रिज से डॉक्टरेट करके लौटने पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उनकी उपेक्षा, इलाहाबाद रेडियो स्टेशन पर हिन्दी प्रोड्यूसर का उनका अनुभव, विदेश मंत्रालय में ऑफिसर आन स्पेशल ड्यूटी (हिन्दी) के रूप में राजनयिक कार्यों में हिन्दी के प्रयोग को बढ़ावा देने के लिये किये गये उनके प्रयत्न और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद का हिन्दी भाषा और साहित्य का पूरा संघर्ष मूर्त हुआ है। 'मुड़–मुड़ कर देखता हूँ' में राजेन्द्र यादव ने चयनात्मक दृष्टि रखते हुए उन्हीं प्रसंगों को सामने रखा है, जिन्होंने उन्हें बढ़ने की प्रेरणा और शक्ति दी है। राजेन्द्र यादव ने उन प्रसंगों को

छोड़ दिया जो उनके विपक्ष में जाते थे। रवीन्द्र कालिया की आत्मकथा 'गालिब छुटी शराब' (2000 ई.) में शराब के बहाने उनके जीवन में उतार चढ़ाव की कहानी कही गई है। रवीन्द्र कालिया ने समकालीन साहित्यकारों पर बेवाक टिप्पणियां लिखने का साहस दिखाया है। 'नई कहानी' के पुरोधा और साठोत्तरी पीढ़ी के अनेक रचनाकार जैसे मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, नरेश मेहता, जगदीश चतुर्वेदी, निर्मल वर्मा, अशोक वाजपेयी, धर्मवीर भारती, कन्हैयालाल नंदन, दूधनाथ सिंह, काशीनाथ सिंह आदि भी कालिया के आत्मकथ्य का हिस्सा बनकर आये हैं। इस आत्मकथा की विशिष्टता यह है कि कालिया ने न अपने को बख़्शा है, न दूसरों को। नामवर सिंह ने अपने आत्मकथ्य 'जीवन क्या जिया' में अपने परिवार, साहित्यिक मित्रों के साथ–साथ अपने अध्यापकीय अनुभव की मार्मिक कथा कही है। रामचन्द्र शुक्ल समर्थक खेमे और हजारी प्रसाद द्विवेदी समर्थक खेमे की गुटबाजियों की कहानी भी सामने रखी है।

हिन्दी आत्मकथा को 'मैं' की केन्द्रीयता से मुक्ति दिलाने का श्रेय दलित एवं स्त्री आत्मकथाकारों को है। यहां से वह मोड़ आता है जब हिन्दी आत्मकथा की दृष्टि और दिशा में परिवर्तन आया। दलित आत्मकथाकारों और आत्मकथा लेखिकाओं ने आत्मबद्धता के स्थान पर पूरे के पूरे समाज को असली रूप में हमारे सामने रखा है। यहीं से पाठक की सघर्ष के माध्यम से पहचान बनाने की जिज्ञासा का समाधान होता है। दलित आत्मकथाओं में 'अपने–अपने पिंजरे' (भाग–I –1995–II–2000) (मोहनदास नैमिशराय) 'तिरस्कृत' (सूरजपाल चौहान), 'जूठन' 1997 (ओमप्रकाश वाल्मीकि) आदि केवल आत्म की कथा भर नहीं हैं। इनमें एक समुदाय के शोषण, दमन, उत्पीड़न और जीवन संघर्ष की कथा है। दलित आत्मकथाएं यथार्थ की भूमि पर सामाजिक सच्चाई सामने लाने का सफल प्रयास हैं।

दलित आत्मकथाकारों की भांति आत्मकथा लेखिकाओं ने 'आत्मकथा' को 'मैं' की अभिव्यक्ति से मुक्त करने के साथ ही इसमें सामाजिक रचनाशीलता का भी विकास किया। स्त्री आत्मकथाएं हाशिए की रचनाशीलता, उत्कट जिजीविषा

और आत्मबल के सर्जनात्मक रूपान्तरण की ओर संकेत करती हैं। गरिमा श्रीवास्तव के शब्दों में ''गहन साहस के साथ कटुतम सत्य को कह डालने की प्रवृत्ति को स्त्री चेतना के प्रतिफल के रूप में देखा जाना चाहिए।''[16]

हिन्दी में पहली स्त्री आत्मकथा 'सरला; एक विधवा की आत्मजीवनी' का प्रकाशन 'स्त्री दर्पण' पत्रिका के जुलाई 1915 से मार्च 1916 के अंकों में हुआ। इसकी लेखिका कोई सरला नाम की विधवा है। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से ईक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक के बीच हिन्दी में कई स्त्री आत्मकथाएं प्रकाशित हुई हैं जिनमें 'बूँद बावड़ी' – 1999 ई. (पद्मा सचदेव), 'कस्तूरी कुण्डल बसै'– 2002 ई और 'गुड़िया भीतर गुड़िया – 2008 ई. (मैत्रेयी पुष्पा), 'अन्या से अनन्या' –2007 ई. (प्रभा खेतान), 'एक कहानी यह भी' –2008ई. (मन्नू भण्डारी), 'हादसे' (रमणिका गुप्ता), 'जो कहा नहीं गया' – 1996 ई. (कुसुम अंसल), 'लगता नहीं है दिल मेरा' – 1997ई. (कृष्णा अग्निहोत्री) और चन्द्र किरण सौनरेक्सा की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' 2008 ई. आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं से हिन्दी में अनूदित आत्मकथाएं भी पर्याप्त परिमाण में हैं। निस्तारिणी देवी की 'सकले कथा' कमलादास की 'माई स्टोरी', तहमीना दुर्रानी की 'मेरे आका' (माई फ्यूडल लार्ड), नलिनी जमीला की मलयालम में लिखित आत्मकथा का हिन्दी अनुवाद 'एक सैक्स वर्कर की आत्मकथा', अमृता प्रीतम की 'रसीदी टिकट' आदि प्रमुख हैं। बांग्लादेश की विवादित लेखिका तसलीमा नसरीन की आत्मकथा के अभी तक सात खण्ड हिन्दी में आ चुके हैं।

(ii) आत्मकथा के तत्व

आत्मकथा आधुनिक गद्य की एक लोकप्रिय विधा है। इसकी लोकप्रियता का मुख्य कारण उसका लोकतांत्रिक स्वरूप है। आत्मकथा की इसी विशिष्टता पर जोर देते हुए कृष्णानंद गुप्त ने लिखा है ''आत्मकथा लिखने का कोई खास ढंग नहीं। हम अपने को किसी प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं। लिखने का ढंग जितना सीधा

---

[16] (सं. नामवर सिंह), आलोचना, अक्टूबर–दिसंबर, 2009, गरिमा श्रीवास्तव का लेख 'प्रतिरोध की संस्कृतिः स्त्री आत्मकथाएं' पृ. 95

और सरल हो, उतना ही अच्छा। निर्मल जल में स्वच्छ प्रतिबिम्ब पड़ता है। वर्णन चातुर्य संदिग्ध वस्तु है। हम सदैव उस पर भरोसा नहीं कर सकते।''[17]

आत्मकथा के विवेचन के तत्त्वगत निश्चित मापदण्डों का निर्धारण संभव नहीं है। आत्मकथा लेखन जितना सरल और सामान्य है उतना ही परिवर्तनशील भी। तत्वों की शास्त्रीयता आत्मकथा के मूल्यांकन का मापदण्ड नहीं हो सकती। फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं जिनका पालन करके एक अच्छी आत्मकथा लिखी जा सकती है। इसी बात को यूं कहा जा सकता है कि इन तत्वों के अभाव में आत्मकथा की विषयवस्तु के संदिग्ध होने का खतरा बना रहेगा। ये तत्व हैं गहनता और पारदर्शिता, जीवन सच, आत्ममंथन, आत्मालोचन, आत्मान्वेषण, ईमानदारी और निष्ठा, इतिहास और स्मृति।

गहनता और पारदर्शिता

आत्मकथा में आत्मकथ्य की निर्भ्रान्त अभिव्यक्ति होती है। यही कारण है कि गहनता और पारदर्शिता के अभाव में आत्मकथा लेखन ठाले–बैठे का काम बनकर रह जायेगा, इसकी सामाजिक उपयोगिता नहीं बन पायेगी। पंकज चतुर्वेदी के शब्दों में कहें तो ''गहनता आत्म के आद्यन्त विश्लेषण के लिए जरूरी है तो पारदर्शिता औरों की आत्मीयता अर्जित करने के लिए क्योंकि आत्मकथा दूसरों के साथ अपने जीवन प्रसंगों का साझाा है।''[18] आत्मकथा लिखते समय आत्मकथाकार को एक आन्तरिक संघर्ष के दौर से गुजरना पड़ता है। उसके मन में यह भाव सजग हो जाता है कि आत्मकथा को कृत्रिमता से कैसे बचायें? उसे अपने मन में यह भाव जाग्रत करना होगा कि आत्मकथ्य की सच्ची अभिव्यक्ति के द्वारा ही वह इस विराट संसार में अपना स्थान निर्धारित कर पायेगा। कृष्णानंद गुप्त का विचार है ''इस विराट संसार में हमारा भी एक अलग स्थान है। एक व्यक्तित्व है। जो हम हैं वह दूसरा नहीं हो सकता। तब हम सब अपनी डायरी क्यों न लिखा करें? वह हमारी आत्मकथा होगी। डायरी लिखना, मानो समय के वेगवान् रथ के पहिए

---

[17] हंस–आत्मकथांक, (सं. प्रेमचन्द), जनवरी–फरवरी 1932, श्रीयुत कृष्णानंद गुप्त का 'हंसवाणी' लेख, पृ. 168
[18] पंकज चतुर्वेदी, आत्मकथा की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 13

को क्षणभर के लिए थाम कर रखने का सुन्दर प्रयत्न है। हम यह प्रयत्न करें, तो क्या बुरा है।''[19]

जीवन सत्य

आत्मकथा जीवन का अर्थ विस्तार करती है अतः यह आवश्यक है कि आत्मकथा में शाश्वत सत्य की नहीं जीवन सत्य की अधिक महत्ता हो। जीवन का सच परिस्थितियों की उपज होता है ऐसे में जीवन को नैतिक मानदण्डों से निर्धारित करना या सामाजिक मान–सम्मान के मद्देनजर आत्मकथा लिखना आत्मकथा की प्रकृति के विरुद्ध है। आत्मकथा तो जीवन सत्य क विकास में योगदान करती है, उसमें बाधा नहीं बनती। आत्मकथा सच को समाज के सामने लाकर सच की सामाजिक उपयोगिता को जबरदस्त ढंग से प्रोत्साहित करती है।

जीवन सत्य के अभाव में आत्मकथा सत्यनारायण की कथा बन कर रह जायेगी। जिस आत्मकथा में सहमति और असहमति का द्वन्द्व नहीं होता वहां आत्मकथा ठाले बैठे का काम बन कर रह जाती है। वह लोगों को उल्लू भर बनाने की कोशिश है क्योंकि मनुष्य जीवन के साथ द्वन्द्व का न होना संभव नहीं। आत्मकथा के लिए जितना महत्व कटु सत्य का है, उतना ही अप्रिय सच का भी। मैनेजर पाण्डेय का मानना है ''एक अच्छी आत्मकथा यह बताती है कि जीवन जीना कितना मुश्किल काम है। हर व्यक्ति के जीवन में अनेक प्रकार के अन्तर्विरोध होते हैं और उन अन्तर्विरोधों के बीच से ही उसका आत्म बनता है–बिगड़ता है, जो लेखक ऐसे अन्तर्विरोधों पर पर्दा डालकर अपने स्वत्व की कथा कहने का प्रयत्न करते हैं वे खुद को धोखा देते हैं और पाठकों को भी।''[20] आत्मकथा व्यक्तिगत और सामाजिक इतिहास का संश्लेष होती है। यही कारण है कि प्रत्येक आत्मकथा के सामने सामाजिक मुखौटा और व्यक्तिगत ईमानदारी का द्वन्द्व होता है।

---

[19] हंस–आत्मकथांक, (सं. प्रेमचन्द), जनवरी–फरवरी 1932, श्रीयुत कृष्णानंद गुप्त का 'हंसवाणी' लेख, पृ. 170
[20] हंस– (सं. राजेन्द्र यादव), जुलाई 2004, मैनेजर पाण्डेय का लेख ''सार्वजनिक चौराहों पर व्यक्तिगत चेहरे'', पृ. 31

आत्ममंथन, आत्मालोचन और आत्मान्वेषण

आत्मकथा लिखते समय आत्मकथाकार आत्ममंथन, आत्मालोचन और आत्मान्वेषण की प्रक्रिया से गुजरता है। आत्मकथा लिखना आइने के सामने अपने को खड़ा करने जैसा है। आत्मकथाकार आत्ममंथन के द्वारा जीवन का निचोड़ निकालता है, आत्मालोचन द्वारा अपनी कमियों को जानने समझने की कोशिश करता है। आत्मान्वेषण द्वारा अपने प्रयासों की सफलता–असफलता पर दृष्टिपात करता है।

आत्म मोह से मुक्त होकर लिखना लेखक के लिए एक चुनौती होता है। आत्मकथाकार के लिए यह चुनौती और लेखकों से अधिक रहती है। इस चुनौती से टकराये बिना अच्छी आत्मकथा लिखन संभव नहीं, साथ ही इस चुनौती से टकराना इतना सरल भी नहीं। आत्मकथाकार के लिए इस चुनौती के सन्दर्भ में कृष्णानंद गुप्त ने लिखा है "पहली बात तो यह है कि अपने को व्यक्त करना अत्यन्त कठिन कार्य है। कारण, अपने सम्बन्ध में कुछ लिखने बैठते ही मनुष्य बहुत सजग और सचेतन हो जाता है– उस वक्त फिर उसकी बातों में स्वच्छता नहीं रहती, वह जो कुछ कहता है, मिथ्या और आडम्बरपूर्ण बन जाता है। अपने सम्बन्ध में कुछ लिखने के लिए, अपने को भूलकर, बिलकुल निर्लिप्त करके लिखना पड़ता है। तभी सुन्दर आत्मकथा लिखी जा सकती है, परन्तु हम अपने को कितना भूलें, कि अपनी जीवनी के भीतर हम मौजूद भी रहें और न भी रहें– यह एक जटिल समस्या है।"[21]

आत्मकथाकार का आत्म मोह आत्मकथा को वैयक्तिक दस्तावेज भर बना देता है। वह उसकी सामाजिक उपयोगिता पर नकारात्मक असर डालता है। आत्म मोह से मुक्ति के लिए निर्वैयक्तिकता पर जोर देते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है "आत्मकथा लेखन में विनम्रता का गुण उतना अपेक्षित नहीं, जैसा सामान्यतः समझा जाता है, जितना निर्वैयक्तिकता का।" विनम्रता में गर्वोक्ति का भाव भी हो सकता है और इसके सहारे अपनी कमजोरी का इजहार भी। 'हंस' के आत्मकथांक के सन्दर्भ में प्रेमचन्द को लिखा जयशंकर प्रसाद का पत्र उनके द्वारा

---

[21] हंस–आत्मकथांक, (सं. प्रेमचन्द), जनवरी–फरवरी 1932, श्रीयुत कृष्णानंद गुप्त का 'हंसवाणी' लेख, पृ. 167

अपनी कमजोरी स्वीकार करने की ओर संकेत करता है। वह इंगित करता है कि अपने निजत्व को खोलना लेखक के लिए इतना सरल नहीं होता है–

"छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथायें आज कहूं

क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूं"[22]

जयशंकर प्रसाद लेखक के मौन रहने का कारण बताते हैं–

सुनकर क्या तुम भला करोगे मेरी भोली आत्मकथा।

अभी समय भी नहीं थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।।[23]

हंस के आत्मकथांक के लिए किसी भी लेखक ने अपने निजत्व को खोलने का साहस नहीं किया। भले ही जयशंकर प्रसाद की तरह उन्होंने अपने मौन रहने के कारणों को ईमानदारी से स्वीकार न किया हो। जिसने भी आत्मकथांक के लिए अपनी सामग्री भेजी उसमें अपने जीवन का बाह्य पक्ष ही सामने रखा। अपनी कमजोरी की जगह अपने वैशिष्ट्य को दिखाने का प्रयास ही मुख्य रहा।

ईमानदारी और निष्ठा

आत्मकथा की सबसे बड़ी शर्त है ईमानदारी और निष्ठा। ईमानदारी अपनी अनुभूतियों के प्रति और निष्ठा समय के सच के प्रति। आत्मकथाकार को अपनी ईमानदारी के साथ परिवेशगत सच को सामने लाना होता है। भारतीय साहित्य लेखकों के साथ एक समस्या यह भी है कि यहां कटु सत्य, न तो कहने का साहस है और न ही सहने का। आत्मकथाकार की ईमानदारी और निष्ठा की बात करते हुए मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है "अच्छी आत्मकथा कहने के लिए यह आवश्यक है कि लेखक में अप्रिय सच कहने का साहस हो और उसके पाठकों में वैसे सच को सहने तथा स्वीकार करने का धैर्य भी हो। भारतीय साहित्य में आत्मकथा के अभाव का एक कारण शायद यह भी है कि यहां लगातार यह उपदेश दिया जाता रहा है कि सच बोलो पर अप्रिय सच नहीं, ऐसे उपदेशों से जो

---

[22] हंस–आत्मकथांक, (सं. प्रेमचन्द), जनवरी–फरवरी 1932, जयशंकर प्रसाद का आत्मकथ्य, (कविता), पृ. 1–अ
[23] वही

मानसिकता बनती है वह अप्रिय सच कहने के साहस का नाश करती है और उसे स्वीकार करने के धैर्य का भी। इस मानसिकता ने भारतीय समाज में सच कहने पर तरह–तरह के प्रतिबन्ध लगा रखे हैं।''[24]

पाठक के सामने आत्मकथाकार का वही रूप सामने आयेगा जैसा वह दिखाना चाहेगा। इसलिए आत्मकथा की ईमानदारी साहित्यिक शर्त के साथ एक सामाजिक कर्त्तव्य भी है, आत्मकथा का लेखन एक स्तर पर विस्मृति के विरुद्ध स्मृति के संघर्ष से जुड़ा हुआ है। दरअसल आत्मकथा में स्मृतियां प्रायः वैसी नहीं होती जैसी वे वास्तव में होती हैं। आत्मकथा का लेखक जैसा याद करता है वैसी स्मृतियां आत्मकथा में आती हैं। जरूरी नहीं है कि आत्मकथा में जीवन का असली रूप सामने आये। आत्मकथाकार की स्मृति में जो रूप महत्वपूर्ण है वही सामने आयेगा। आत्मकथा में सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। आत्मकथाकार चयन करते समय जीवन के किस अंश को छोड़ रहा है और किस अंश को अभिव्यक्त कर रहा है यह अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। इसके लिए आत्मकथाकार के साहस और ईमानदारी की बड़ी भूमिका रहती है।

इतिहास और स्मृति

आत्मकथा का अर्थ सिर्फ अपने विगत जीवन को याद करना भर नहीं है। आत्मकथा का स्वरूप इतिहास और स्मृति के मिश्रण से निर्मित होता है। आत्मकथाकार में इतिहासकार की सी तथ्यपरक दृष्टि भी होनी चाहिए और रचनाकार जैसी स्मृति परक संवेदना भी। आत्मकथा में इतिहास और स्मृति के सम्बन्ध में मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं ''इतिहास उनका होता है जो विजयी होते हैं, जो पराजित होते हैं, वे और उनकी आवाज भी यहां तक कि उनकी चीख भी इस तरह दबा दी जाती है कि इतिहास और भविष्य उसे भूल जायें। स्मृति की जरूरत और सार्थकता उन दबी हुई और भुला दी गई आवाजों को खोजने, पहचानने और आमने–सामने लाने में है।''[25] आत्मकथा इतिहास की तरह तथ्यों का संग्रह भी

---

[24] हंस– (सं. राजेन्द्र यादव), जुलाई 2004, मैनेजर पाण्डेय का लेख ''सार्वजनिक चौराहों पर व्यक्तिगत चेहरे'', पृ. 31

[25] वही, पृ. 34

नहीं होती है और न ही मनचाही स्मृतियों का सार। आत्मकथा में इतिहास और स्मृति के बीच एक बैलेंस होना चाहिए। आत्मकथाकार को न तो इतिहासकार बनने की कोशिश करनी चाहिए और न ही स्मृतिकार।

(iii) आत्मकथा में जीवन

हंस के आत्मकथा विशेषांक को लेकर भी यह बहस उठी थी कि आत्मकथा लिखने का औचित्य क्या हो? आत्मकथा लिखने का अधिकार किसको हो? आत्मकथा में अभिव्यक्त जीवन कैसा हो? परन्तु आज तक इन सवालों का न तो उत्तर मिला है और न ही मिलेगा क्योंकि आत्मकथा की प्रकृति को ध्यान में रखकर सोचा जाये तो ऐसे सवाल आत्मकथा के सन्दर्भ में कोई महत्व नहीं रखते। आत्मकथा में न तो पहले से तय किया गया जीवन होता है और न ही पहले से तय कला। आत्मकथा के कथ्य के लिए सामान्य के असामान्य अनुभव और असामान्य के सामान्य अनुभव दोनों का बराबर महत्व होता है। आत्मकथा हमें सामाजिक जीवन की जटिलता और रहस्यमयता बताती है। आत्मकथा हमें जीवन में आये दुःख के क्षणों की अनुभूति कराती है। आत्मकथा सुख के स्रोतों को हमारे सामने लाती है। आत्मकथा में अभिव्यक्त जीवन कोई काल्पनिक दुनिया नहीं है। वह भोगा गया जीवन है जिसकी अनुभूतियां हमारे लिए प्रेरक होती हैं। यही कारण है कि आत्मकथा में जीवन संघर्ष में विजय का जितना महत्व है उतना ही पराजय का।

आत्मकथा जीवन जीने के पूर्वनिश्चित मापदण्डों को नकार कर वास्तविक जीवन की कथा कहती है। पंकज चतुर्वेदी का विचार है ''साहित्य में आत्मकथा एक ऐसी विधा है, जिसे हर हाल में जीवन वास्तव के अधीन रहना होता है। जिस तरह नैसर्गिक जिन्दगी का पहले से सोचा–समझा कोई शिल्प नहीं हो सकता, उसी तरह उसको जीने की कोई सुनिश्चित 'कला' भी नहीं हो सकती। वहां अप्रत्याशित परिस्थितियों से सीधी मुठभेड़ होती है, जिसमें सीखे हुए दाँव–पेंच बराबर बेकार जा सकते हैं।''[26] यह जरूर है कि इस संघर्ष में से रीते हाथ लेकर कोई नहीं लौटता। सबके पास कुछ न कुछ मार्मिक निष्कर्ष होते हैं। इनसे जुड़ा

[26] पंकज चतुर्वेदी, आत्मकथा की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 07

कोई प्रश्नाकुल आवेग होता है, जिसे हम अपने में थामे हुए नहीं रह सकते। रहते हैं तो भाव और भाषा की सम्भावनाएं कुंठित हो जाती हैं।

आत्मकथा का काम मनुष्य को मनुष्य के आसन पर बैठाना है। आत्मकथाकार द्वारा देवत्व के आसन पर बैठने की कोशिश आत्मकथा की सामाजिक नैतिकता और सौन्दर्यबोधी शर्त के विपरीत है। इसी संदर्भ में नन्ददुलारे वाजपेयी की चिट्ठी का जवाब देते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है "अब रह गई बात कि हिन्दी में ऐसे लिखने वाले कितने हैं, जिनकी जीवनी हिन्दी जनता की पथ–नियामिका बन सकती है? आपका ख्याल है एक भी नहीं। मेरा खयाल है कि मेरे घर में मेहतर के जीवन में भी कुछ ऐसे रहस्य हैं जिनमें हमें प्रकाश मिल सकता है। ... किसी भी मनुष्य का जीवन इतना तुच्छ नहीं है, जिसमें बड़े से बड़े महच्चरितों के लिए भी कुछ न कुछ विचार की सामग्री न हो। महच्चरित इसी तरह बनते हैं।"[27]

TH-19356

आत्मकथा लिखते समय आत्मकथाकार यह सोच कर नहीं लिखता कि 'ये अपने लिए' और 'ये पाठक वर्ग के लिए'। आत्मकथा में निजी प्रसंग कब सामूहिक अवचेतन की वाणी बन जाते हैं इसका पता नहीं चलता है। "आत्मकथा स्वयं और अन्य के पारस्परिक सम्बन्ध को खोजने और विश्लेषित करने का सजग माध्यम हो सकती है। किसी का आत्मकथ्य दूसरे के नितान्त भिन्न अनुभव संसार से हमें जोड़ता है, वह संसार जिसे हम बिलकुल नहीं जानते। हम एक व्यक्ति के अस्तित्व के साथ–साथ सामूहिक अस्तित्व से भी जुड़ते चलते हैं।"[28]

आत्मकथा में जीवन सच को छुपाया नहीं जाता, बताया जाता है। मार्क ट्वेन ने लिखा है "आत्मकथा सर्वाधिक सच्ची किताब होती है, यद्यपि उसमें सच को छिपाने, उससे बचने और उसको आंशिक रूप से ही सामने लाने की कोशिश होती है, फिर भी उसमें पंक्तियों के बीच में निष्ठुर सत्य छिपा रहता है। इसलिए लेखक की कोशिश के बावजूद पाठक उसके जीवन के सच को पहचान ही लेता

---

[27] वही, पृ. 23

[28] आलोचना (सं. नामवर सिंह) अक्टूबर–दिसम्बर 2009, गरिमा श्रीवास्तव का लेख – 'प्रतिरोध की संस्कृतिः स्त्री आत्मकथाएं', पृ. 92

Jawaharlal Nehru University Library

है।''[29] कोई भी लेखक भाषा के सहारे जीवन सच को छिपा नहीं सकता है। सच को छिपाने में भाषा उसकी सहायक नहीं हो सकती है। भाषा की अपनी प्रकृति है इसमें न तो जीवन सच को छिपाया जा सकता है और न ही झूठ को दिखाया जा सकता है। अगर कोई लेखक ऐसी कोशिश करता है तो वह पाठक की नजर से बच नहीं सकता। लेखक की दृष्टि से सच को छिपाने वाले शब्द पाठक की दृष्टि में सच को खोलने वाले बन जाते हैं।

आत्मकथा में जीवन उसी रूप में आना चाहिए जैसा जिया गया या महसूस किया गया हो। कोई भी व्यक्ति अपने जीवन के लिए स्वयं को ही जिम्मेवार मानकर नहीं चल सकता है। यह बात कहने में ही अच्छी लगती है कि मेरे जीवन के लिए मैं खुद जिम्मेदार हूँ। वस्तुस्थिति सदैव अलग होती है। व्यक्ति को बनाने–बिगाड़ने में परिवेश एक अहम भूमिका निभाता है। सामाजिक स्थितियां व्यक्ति से प्रभावित होने की तुलना में उसे प्रभावित अधिक करती हैं। जिसके जीवन में अभावों का रोना हो, जो संकटों से जूझ रहा हो उससे हास्य विनोद भरी बातों की अपेक्षा करना तो बेमानी ही होगी। जीवन में स्मृतियां एक प्रकार की नहीं होती हैं। मैनेजर पाण्डेय का विचार है ''कुछ स्मृतियां संघर्ष की होती हैं, यातना की होती हैं, दमन की होती हैं तो कुछ सफलता, सुख, ऐश्वर्य और विलासिता की भी होती हैं। दोनों तरह की स्मृतियों से छुटकारे की चिंता समान नहीं होती है। संघर्ष, यातना और दमन की स्मृतियों से भविष्य में संघर्ष का संकल्प प्राप्त होता है। इसीलिए दुनिया भर के संघर्षशील समुदाय संघर्ष की पुरानी स्मृतियों को भविष्य की शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं।''[30]

आत्मकथा में अभिव्यक्त जीवन को कला की कसौटी पर कसकर नहीं देखा जा सकता। उसमें कलागत सौन्दर्य की खोज नहीं की जा सकती। आत्मकथा में जीवन का संवदेनात्मक पक्ष ही उसका सौन्दर्य होता है। गालिब के शब्दों में कहें तो–

---

[29] हंस– (सं. राजेन्द्र यादव), जुलाई 2004, मैनेजर पाण्डेय का लेख ''सार्वजनिक चौराहों पर व्यक्तिगत चेहरे'', पृ. 31

[30] वही, पृ. 33

फरियाद की कोई लै नहीं हैं
नालः पाबंद–ए नै नहीं है।

जो लोग फरियाद को किसी विशेष लय में सुनना चाहते हैं और आर्तनाद को बांसुरी के स्वर में ही – वे कला पारखी तो क्या, सच्चे इन्सान भी नहीं हैं। आत्मकथा की संरचना में एक लोकोन्मुख बहसधर्मिता निहित है। वह अपने मिजाज से ही आभिजात्य के विरुद्ध है, क्योंकि उसमें अपने अंतरंग का निश्छल उद्‌घाटन होता है। न वह किसी से पर्दा करती है, न किसी को अछूत मानती है। आत्मकथा में हम अपने सब कुछ को सार्वजनिक कर देने के साहस और फिर इस सार्वजनिकता में से अपने को दुबारा पा लेने के अचरज के बीच लगातार आवाजाही करते हैं।

आत्मकथा में अभिव्यक्त जीवन को ऊंच–नीच की कसौटियों से नहीं माप सकते। अपना अनुभूत जीवन सत्य ही लेखक हमारे सामने रखता है। जिस परिवेश में आत्मकथा कार पला है, वह परिवेश ही उसकी सच्चाई है। परिवेश के साथ संघर्ष, तथा सफलता–असफलता की कहानी ही वह पाठक के सामने रखता है। न तो उसकी सफलता में कोई जादुई ताकत होती है और न उसकी असफलता किसी नियति का परिणाम। आत्मकथाकार का जीवन सामाजिक परिधि से बाहर नहीं होता। आत्मकथाकार जो लिख रहा है वो उसकी दृष्टि से देखा गया और अनुभूत किया गया सामाजिक यथार्थ है। आत्मकथा में अभिव्यक्त जीवन की सार्थकता उसकी नितान्त वैयक्तिकता में नहीं अपितु समाज के भीतर व्यक्ति के अस्तित्व में निहित है। आत्मकथा में जो कुछ भी कहा जाता है, वो बिना किसी लाग–लपेट के कहा जाता है। आत्मकथा का कलात्मक सौन्दर्य शिल्प कौशल से नहीं, अनुभूति की सच्चाई से निर्मित होता है। यही कारण है कि एक सामान्य व्यक्ति आत्मकथा लिख सकता है और एक अतिसामान्य व्यक्ति आत्मकथा को पढ़ भी सकता है। आत्मकथा लिखते समय अतिरिक्त सजगता की नहीं, सच कहने के साहस की जरूरत होती है।

(iv) चन्द्रकिरण सौनरेक्सा और उनका सृजन संसार

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा का जन्म 19 अक्टूबर 1920 ई. को पेशावर छावनी नौशहरा में एक आर्य समाजी परिवार में हुआ। उनकी आरम्भिक शिक्षा मेरठ में हुई, भले ही चन्द्रकिरण को उच्च शिक्षा के लिए मुक्त वातावरण नहीं मिला, फिर भी साहित्य संसार को समझने की दृष्टि उन्होंने अपने परिवेश से ही पाई। स्वाध्याय की प्रक्रिया के शुरूआती चरण में ही उन्होंने बंकिमचन्द्र, सुदर्शन, शरत्चन्द्र, रवीन्द्रनाथ और प्रेमचन्द जैसे ख्यातनाम लेखकों के साहित्य को पढ़ डाला।

बचपन से ही चन्द्रकिरण की रुचि साहित्य के प्रति रही। वह अनवरत और अधिक गहरी तथा सुदृढ़ होती गई। पुस्तक प्रेम ऐसा कि अनेकों बार दिन भर घर से गायब रह कर परिवार वालों के होशोहवास उड़ा डाले। हर दिन एक ही विचार दिमाग में घूमता रहता कि आज सोने से पहले क्या पढ़ूंगी। बचपन से ही चन्द्रकिरण को न कभी खाने की चिन्ता ने और न ही पहनने की चिन्ता ने सताया। चिन्ता थी तो बस इस बात की कि सोने के लिए पढ़ना जरूरी और पढ़ने के लिए पत्र–पत्रिकाओं व पुस्तकों का होना। चन्द्रकिरण के लिए पत्र–पत्रिकाएं जुटाना सरल नहीं था। पारिवारिक बंदिश में चन्द्रकिरण की साहित्यिक रुचि के लिए अवसर नहीं था।

चन्द्रकिरण ने अपनी प्रतिभा के बल पर स्वाध्याय द्वारा और वह भी मांगी हुई पुस्तकों के सहारे हिन्दी साहित्य की प्रतिष्ठित परीक्षा 'साहित्य रत्न' उत्तीर्ण की। चन्द्रकिरण ने न केवल हिन्दी का ही अध्ययन किया अपितु घर पर ही अंग्रेजी, उर्दू, बांग्ला, गुजराती और गुरुमुखी जैसी भाषाओं की साहित्यिक समझ विकसित की।

जीवन के तेरहवें बसन्त के पूर्व ही माँ की मृत्यु ने चन्द्रकिरण को अपनी उम्र से अधिक समझदार बना दिया। माँ की मृत्यु के बाद चन्द्रकिरण की जीवनचर्या घर की चार–दिवारी के भीतर सिमट कर रह गई। पिता और भाइयां के बीच चन्द्रकिरण का व्यक्तित्व खुल कर सामने नहीं आ सका। माँ की मृत्यु चन्द्रकिरण के जीवन की वह घटना थी जहां से उनका जीवन संघर्ष और 'पिंजरे

की मैना' की कथा शुरू होती है। बिन मां की बेटी कह कर समाज चन्द्रकिरण के चरित्र पर सवाल न उठाये इसी चिन्ता के बीच चन्द्रकिरण ने अपने को घर के घेरे में ही सीमित कर लिया।

कहानी लेखन और पत्रों के माध्यम से शुरू हुआ प्रेम 1940 में शादी में बदल गया। लेखक और पत्रकार कांतिचन्द्र सौनरेक्सा के साथ एक नये जीवन की शुरुआत हुई। वकौल चन्द्रकिरण ''इस तरह मेरी जिन्दगी को बाहरी दुनिया के रंग देखने का मिले, जिनकी मैं कल्पना ही नहीं कर सकती थी। कहाँ मेरठ और दिल्ली छावनी की घर की चारदिवारी में बंद जिन्दगी और कहां आज कवि सम्मेलनों में, नाटकों में भाग लेती चन्द्रकिरण सौनरेक्सा! मुझे लगा, मैं जमीन पर नहीं आकाश में उड़ रही हूँ।''[31] थोड़े समय बाद ही चन्द्रकिरण का आकाश में उड़ने वाल मन समझ गया कि ''मैंने ऐसे व्यक्ति का साथ चुन लिया था जो शत्रु के चश्मे से ही सब कुछ देखता है।''[32] चन्द्रकिरण ने साहित्य के क्षेत्र में पति की ईर्ष्या को झेला तो पारिवारिक जीवन में पति के विवाहेत्तर सम्बन्धों की पीड़ा को झेलकर भी आदर्श पत्नी बनी रही। संकट की हर स्थिति में पति के साथ खड़ी रही।

चन्द्रकिरण का व्यक्तित्व ही कुछ ऐसा था कि अपने कार्यक्षेत्र के बाहर भी वह लोगों की संकटमोचक बनी रही। लखनऊ आकाशवाणी की 24 वर्ष की नौकरी में उन्होंने न केवल अपने महिला व बाल विकास विभाग अपितु पूरे कार्यालय में संकटमोचक की भूमिका निभाई।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने 11 वर्ष की उम्र में प्रथम कहानी 'अछूत' शीर्षक से लिखी। 'अछूत' दलित लड़के पर आधारित एक मार्मिक कहानी है। 'अछूत' से शुरू हुआ कहानी लेखन का सिलसिला चल निकला। उनकी अनेकों कहानियां पत्र–पत्रिकाओं में छपने लगी तथा हिन्दी के बड़े साहित्यकारों द्वारा सराही जाने लगी। उस समय कहानी के क्षेत्र में चन्द्रकिरण का नाम हिन्दी में अनजाना था।

---

[31] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 193
[32] वही, पृ. 221

उनकी कहानियों के सन्दर्भ में मुन्शी प्रेमचन्द ने लिखा '' चन्द्रकिरण की कहानियों में बहुत ही पुष्ट सामाजिक दृष्टिकोण मिलता है। आज के प्रगतिशील कहानीकारों में आपका विशिष्ट स्थान है।''

अपने कहानी लेखन के शुरुआती दिनों में 'ऐज्यूकेटेड वाइफ' (चाँद), 'उधार का सुख' (माया), 'अकिला' (रुपाभ) 'नारी' (महिला) जैसी कहानियों से चन्द्रकिरण ने हिन्दी साहित्यकारों को ध्यान अपनी ओर खींचा। 'अज्ञेय' ने उनकी कहानियों की प्रभावशीलता का जिक्र करते हुए लिखा ''तीव्रता की दृष्टि से चन्द्रकिरण ने मध्यवर्गीय जीवन में पाखण्डों, स्वार्थों और आकांक्षाओं पर इतनी गहरी चोट की है कि पाठक तिलमिला उठेगा।''

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा का प्रथम कहानी संग्रह 'आदमखोर' शीर्षक से सन् 1946 में प्रकाशित हुआ। 'आदमखोर' कहानी संग्रह पर उनको सेक्सरिया पुरस्कार मिला। 'आदमखोर' को लन्दन विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में भी शामिल किया गया। चन्द्रकिरण ने तीन सौ से अधिक कहानियां लिखी हैं। इनमें कश्मीर में कबाइली घुसपैठ के समय युद्ध के मोर्चे पर जाकर लिखी कहानी 'वे भेड़िये' भी शामिल है। उनके अधिकांश कहानियों के पात्र समाज के वास्तविक पात्र हैं। 'जवान मिट्टी', 'अकिला', 'किराये की मां', 'तीसरी कोशिश', 'प्रेम और रोटी', 'दो राष्ट्र और एक इन्सान', 'अच्छा लड़का–अच्छी लड़की' आदि कहानियां उनके अनुभूत जीवन की उपज हैं। अपनी कहानियों के बारे में चन्द्रकिरण कहती है ''मेरी कथा यात्रा के पात्र मेरे संगी साथी हैं। सबको मैंने मन का प्यार दिया है। वे बुरे–भले जो भी हैं इसी भूमि की उपज हैं जहाँ मैं हूँ, जहाँ के आप हैं।''

चन्द्रकिरण की कहानियों के अलावा चार उपन्यास 'चँदन–चाँदनी', 'वंचिता', 'दिया जलता रहा' और 'कहीं से कहीं नहीं' प्रकाशित हैं।

'छाया' तथा 'ज्योत्सना' उपनाम से चन्द्रकिरण ने हिन्दी में कविताएं लिखी हैं। चन्द्रकिरण ने नुक्कड़ नाटक और बालसाहित्य के सर्जन में भी अपने लेखन कौशल का प्रयोग किया है। दूरदर्शन पर प्रदर्शित फिल्म 'गुमराह' में भी उन्होंने योगदान दिया है। उनका एक कहानी संग्रह 'द्येन रोज द्येन्या' नाम से रूसी भाषा

में अनूदित है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा को हिन्दी की ऐसी कहानीकार होने का गौरव प्राप्त है जिनकी कहानियों का भारतीय भाषाओं के अलावा चेक, रूसी, इंग्लिश तथा हंगेरियन में भी अनुवाद हुआ है।

न केवल चन्द्रकिरण अपितु हिन्दी साहित्य के लिए यह गौरव की बात है कि आज भी ऑक्सफोर्ड और अमेरिका के दो प्रमुख विश्वविद्यालयों तथा रोमानिया के विश्वविद्यालय में उनकी कहानियाँ हिन्दी पाठ्यक्रम में पढ़ाई जाती हैं।

चन्द्रकिरण ने अलंकार और छन्दशास्त्र पर भी दो लेख लिखे जो बाद में 'आर्यमित्र' पत्रिका में छपे। हरिवंशराय बच्चन के कविता संग्रह 'निशा निमन्त्रण' पर आलोचना लिखी जो 'महिला' पत्रिका में छपी।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने साहित्य सृजन के साथ ही साहित्य जगत में नकल की प्रवृत्ति का विरोध करके दिखाया। चाहे कितना ही बड़ा साहित्यकार क्यों न हो मगर गलत कर रहा है तो उसका विरोध उन्होंने किया। आचार्य चतुरसेन शास्त्री की ''दुःखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी'' के विरोध के चन्द्रकिरण ने 'चाँद' की सम्पादक महादेवी को पत्र लिखा। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा का साहित्य परिमाण में भले ही कम हो परन्तु जिन परिस्थितियों में उन्होंने लिखा, वह किसी चुनौती से कम नहीं था। पति की साहित्यिक ईर्ष्या ने चन्द्रकिरण की प्रतिभा को सही अवसर पर पाठकों के सामने नहीं आने दिया। चन्द्रकिरण की पीड़ा उन्हीं के शब्दों में ''मैंने दूसरा निश्चय किया– कहानी लिखूंगी पर इन्हीं को पकड़ा दूंगी– फिर 'यह' चाहे प्रकाशन के लिए भेजें– मेरा कोई सीधा सम्पर्क नहीं रहेगा। न सम्पादक के पत्र आयेंगे न ये झगड़े होंगे, शायद यही वह सबसे आदर्शवादी पतिव्रता पत्नी का निर्णय था– जिसकी कीमत मेरे पूरे साहित्यिक जीवन ने चुकाई– और लगभग गुमनामी के कगार पर अभिशप्त सरस्वती के वरदान सी मैं खड़ी हूँ।''[33]

चन्द्रकिरण के साहित्यिक व्यक्तित्व में किसी का सहारा लेकर आगे बढ़ने का भाव कभी नहीं आया। हिन्दी साहित्य के ख्यातनाम लेखकों से निकट का सम्पर्क होते हुए भी चन्द्रकिरण ने अपनी राह स्वयं बनाई। चन्द्रकिरण के व्यक्तित्व

[33] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 224

की यह विशिष्टता है कि साहित्यिक जीवन में कभी समझौता नहीं किया। दूसरी तरफ परिवार को बचाने के लिए पति के शक्की, झगड़ालू और पलायनवादी व्यक्तित्व के साथ समझौते पर समझौते करती रहीं। अपने साहित्य में आदर्शवाद और आशावाद का सन्देश देने वाली लेखिका अपनी स्थिति के सन्दर्भ में पीड़ा के साथ यह स्वीकार करती है ''पत्रिका में छप जाना ही मेरी कहानियों की नियति रही... वक्त से पहले और भाग्य से ज्यादा किसी को नहीं मिलता–हमें कर्म करने का अधिकार है, हम नियति नहीं बदल सकते – मैं कर ही क्या सकती हूँ?''[34]

अनबैलेंस्ड पति के साथ तालमेल बैठाने की हर संभव कोशिश के बीच चन्द्रकिरण ने रचनाकार रूप में अपनी पहचान बनाई है। जबकि पति द्वारा सहयोग के स्थान पर बाधाएं ही खड़ी की गयी। कभी चरित्र पर सवाल उठाया गया तो कभी रचनात्मक प्रतिभा पर। चन्द्रकिरण लिखती है कि ''पहले यह कह कर कि प्रकाशक तुम्हे ठग लेंगे बाद में साहित्य के क्षेत्र में गुमनामी का संकेत भी दे दिया 'कोई साला प्रकाशक तुम्हें नहीं पूछता तो मैं क्या करूँ'।''[35]

चन्द्रकिरण को हिन्दी साहित्य का प्रतिष्ठित 'सारस्वत सम्मान' पुरस्कार मिला। आपको 'सुभद्रा कुमारी चौहान पदक'' से नवाजा गया। 'आदमखोर' कहानी संग्रह पर 'सेक्सरिया पुरस्कार' मिला। दिल्ली सरकार द्वारा आपको 'स्त्री सशक्तीकरण वर्ष 2001' में साहित्यिक सेवा के लिए 'सर्वश्रेष्ठ हिन्दी लेखिका' का सम्मान दिया गया। जीवन के 86वें वर्ष में आत्मकथा लिखकर चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने हिन्दी आत्मकथा विशेषतः महिला आत्मकथा को एक नई दिशा दी है। ''पिंजरे की मैना'' का आत्मकथ्य रचनाकार के रूप में पहचान बनाने की इच्छा मन में लिये और व्यावहारिक गृहस्थ जीवन के बीच रास्ता निकालने की कोशिश करती स्त्री की अभिव्यक्ति है। ''पिंजरे की मैना'' की स्त्री का संघर्ष पारिवारिक उत्तरदायित्वों के साथ आगे बढ़ा है। यहां जिम्मेदारियों को दरकिनार करके या जिम्मेदारियों को दरकिनार करने के लिए विद्रोह नहीं है। वे कहती हैं कि वस्तुस्थिति से समझौता करने में ही बुद्धिमानी होती है। तभी तो चन्द्रकिरण ने पति

---

[34] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 401
[35] वही, पृ. 409

के अहं की तुष्टि, घर–परिवार की खींचतान को एक कुशल अभिनेत्री की तरह झेल लिया। उन्होंने लिखा है – ''हमारे बीच कभी ऐसा तालमेल नहीं रहा– जिसके परिणामस्वरूप जिन्दगी किन्हीं मायनों में शैक्सपीरियन त्रासदी बनकर रह गई। हम अपने अपने दायरों में रहे। कांति जी आज भी विफलताओं के कारण कहीं और ढूंढते हैं। प्रकृति और प्रवत्ति दोनों का सन्तुलन उनमें शुरू में कम था। इसीलिए, उन्होंने जो–जो कहा जैसे–जैसे कहा वह सब वैसा ही करने की कोशिश की गई, फिर भी अतृप्ति, असंतोष उनका नहीं मिटा।''[36]

'पिंजरे की मैना' उस स्त्री की पीड़ा है जिसने आर्थिक रूप से सक्षम होने पर भी रिश्तों को बचाये रखने के लिए अपने जीवन के सबसे बड़े अरमान–एक रचनाकार के रूप में पहचान बनाने– का त्याग कर दिया। वे स्वीकर करती हैं ''ऐसे ही अवसरों के समझौते ने हमारे जैसे लोगों को समझदार कम और कमजोर ज्यादा सिद्ध कर दिया है। आज की पीढ़ी इन्हीं मौकों का दामन पकड़ कर दूसरे का सच उसी के मुँह पर मारकर स्वयं को विजयी सिद्ध करने का आनंद लेना ज्यादा पसंद करती है। बजाये रिश्तों को बचाये रखने के लिए, चुप रहने के।''[37]

चन्द्रकिरण ने साहित्य सृजन को साधना की तरह लिया, मन बदलाव की तरह नहीं। भले ही उनकी साधना यश के कगार तक नहीं पहुँची हो पर रचनात्मक ईमानदारी के लिए चन्द्रकिरण साधुवाद की पात्र हैं।

बहुमुखी प्रतिभा की धनी चन्द्रकिरण सौनरेक्सा पारिवारिक जिम्मेदारियों को निभाने के सुकून तथा पति की साहित्यिक ईर्ष्या के कारण साहित्य में 'पिंजरे की मैना' बनकर रह जाने की पीड़ा लेकर 15 मई सन् 2009 को इस दुनिया को अलविदा कह गईं। चन्द्रकिरण ने साहित्य के रूप में अपनी अमूल्य धरोहर छोड़ी है जो आने वाली पीढ़ी के लिए प्रेरक का काम करेगी। चन्द्रकिरण का साहित्य नयी पीढ़ी को एक नये संघर्ष के लिए तैयार करेगा। जिम्मेदारियों से बचने की जगह उन्हें निभाते हुए जीने का सन्देश देता चन्द्रकिरण का व्यक्तित्व सदैव सहृदय पाठक के मन में प्रेरक के रूप में विद्यमान रहेगा।

---

[36] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 409
[37] वही, पृ. 249

अध्याय–द्वितीय

पिंजरे की मैना : स्त्री का जीवन व रचना संघर्ष

(i) सामाजिक संस्थागत संघर्ष

(ii) परिवेश एवं पृष्ठभूमिजन्य संघर्ष

(iii) पारिवारिक दायित्व का अर्थ संघर्ष

(iv) सृजन एवं प्रकाशन में विवशता का संघर्ष

पिंजरे की मैना : स्त्री का जीवन व रचना संघर्ष

सीमोन द बोउआर ने कहा है "यदि किसी जाति को लगातार हीन अवस्था में रखा जाये तो सही बात है कि वह हीन ही रहेगी किन्तु मानवीय स्वतंत्रता इस सीमा को तोड़ सकती है। आप अधिकार तो दीजिये, उपयोग करना स्त्री स्वयं सीख जायेगी। सच्चाई तो यह है कि दमनकर्ता कभी भी आगे बढ़कर अकारण उदारता नहीं दिखाएगा, किन्तु कभी तो दमित के विद्रोह और कभी स्वयं सुविधा प्राप्त वर्ग के अपने विकास से नई परिस्थितियां जन्म लेती हैं। इन नई परिस्थितियों की अपनी मांगें होती हैं, जिनको पूरा करने के लिए पुरुष स्वयं स्त्री को आंशिक मुक्ति देने के लिए बाध्य होता है।"[1] सीमोन द बोउवार ने स्त्री को उस संघर्ष के लिए तैयार किया जो उसे हीनता से मुक्ति दिला सकता है। जिस षड्यंत्र की शिकार स्त्री हुई है या हो रही है उसको जाने बगैर मुक्ति की तलाश संभव नहीं है। मुक्ति का विचार स्त्री के मन में एकाएक नहीं आया, मुक्ति की बाधा ही मुक्ति की उत्कंठा को जगाती है। लेकिन बात इतनी सरल भी नहीं है जिनको यह पता नहीं कि हमारा असली शत्रु कौन है, वे समर में तलवार भांज पाये, ये तो बहुत आगे की बात है, वे समर के लिए तैयार हो जाये यही बड़ी बात है। भारतीय स्त्री के साथ असली शत्रु के पहचान की समस्या अभी भी बनी हुई है। वह अपने अस्तित्व को स्वतन्त्र रूप में नहीं देख पा रही है। वह उतना ही देख पा रही है जितना उसको दिखाया जा रहा है। पिता के साथ, पति के साथ और पुत्र के साथ के बिना उसे अपना अस्तित्व कहीं नजर नहीं आता। पुरुष ने उसे अर्द्धांगिनी क्या कह दिया उसे लगता है कि उसका आधा अंग तो पुरुष ही है। उसके मन में यह विचार घुस गया कि पुरुष के बिना वह अधूरी है। वह तो बेचारी अपने अधूरेपन की चिन्ता में खोई रहती है। अधूरेपन को भरने के लिए मुक्ति की नहीं बंधन में बंधने की विवशता ही उसे खाये जा रही है। स्त्री अपने अधूरेपन को भरने के लिए इतनी बेचैन है कि वह पुरुष को उसके अधूरेपन के अहसास का मौका ही नहीं देती। पुरुष का साथ, उसे अपने ऊपर अहसान नजर

---

[1] प्रभा खेतान, 'स्त्री उपेक्षिता', पृ. 345, (सीमोन द बोउआर, की पुस्तक 'दि सैकेण्ड सैक्स' का हिन्दी अनुवाद)

आता है। जिसके बदले उसे अपना हर प्रतिदान कम लगता है। पुरुष ने उसे त्याग की मूर्ति क्या कह दिया, अब उसे त्याग में ही जीवन की सार्थकता नजर आती है। त्याग का मंत्र उस पर इस कदर हावी है कि उसने अपना स्वतंत्र जीवन ही त्याग दिया। अब वह अपने जीवन की हर कड़ी को पुरुष के साथ जोड़कर देखती है। जहां पुरुष का साथ नहीं वहां उसे अधूरेपन की चिन्ता सताने लगती है।

स्त्री मुक्ति के सन्दर्भ में सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह नारीवाद की उन सीमाओं का अतिक्रमण कैसे करे जिनको खुद उसने अपने ऊपर आरोपित किया है। स्त्री स्वयं ही अपने को अबला या असहाय रूप में प्रदर्शित करती रही है। अन्न तथा मूल्य वृद्धि अभियानों में स्त्रियों द्वारा सरकारी कर्मचारियों को चूड़ियां भेंट करना इस बात का प्रतीक है कि स्त्री अपना रूप पुरुष की तुलना में अधिक कमजोर और असहाय मान कर चलती है। पुरुष स्त्री को पुरुष और स्त्री के रूपाकार की भिन्नता के द्वारा नैतिक दृष्टि से कमजोर करने का प्रयास करता रहा है। नैतिक नियम चाहे पूर्व के हों या पश्चिम के मुख्यतः पुरुष मूल्यबोध पर ही आधारित रहे हैं। स्त्री मूल्यों को समझने की कोशिश कभी नहीं की गई। पुरुष ही नैतिकता के 'एजेंट' बने रहे। सामंती सोच वाले समाज में पुरुष का वर्चस्व इतना अधिक प्रभावी रहा कि स्त्री एक सामाजिक वस्तु बन कर रह गई। उसका अपनी देह पर भी नियंत्रण नहीं रहा। स्त्री को मां, बहन, पत्नी के 'लेबल' से मुक्त नहीं होने दिया गया।

20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में स्त्री के मां रूप का प्रतीक उभरा। नारी शक्ति की अवधारणा के अनुसार स्त्री को राष्ट्रमाता के रूप में, रक्षा करने वाली उग्र रूपधारिणी महाकाली के रूप में तथा गांधीवादी विचारधारा के अनुसार स्त्री को कष्ट सहले वाली सहनशील मां के रूप में देखा गया। स्त्री को मातृत्व की छवि से मुक्त होकर कामकाजी महिला बनने में लम्बे संघर्ष के दौर से गुजरना पड़ा है। लिंग आधारित श्रम भेद के खिलाफ विरोध का स्वर बीसवीं सताब्दी के सातवें दशक के बाद ही शुरू हुआ।

स्त्री की मुक्ति के संघर्ष में पुरुष कभी साझीदार नहीं बन सका। पुरुष ने स्त्री को वस्तुरूप में गिना है, अब पुरुष को यह चिन्ता सताने लगी है कि कहीं स्त्री उसको कामना की वस्तु न बना दे। स्त्री अपने स्वतंत्र अस्तित्व के प्रति जितनी बेखबर रही, पुरुष उतना ही सजग रहा। गृहस्थी चलाने के जरूरी साधनों पर पुरुष ने अपना नियंत्रण बनाये रखा। स्त्री को कभी साझीदार नहीं बनाया। उसको यही कहा गया कि ये मर्दों का काम है तुम औरतों के वश की बात नहीं। पुरुष जानता है कि आर्थिक दृष्टि से स्त्री की आत्मनिर्भरता उसे मुक्ति के संघर्ष के लिए तैयार करेगी। आर्थिक दृष्टि से मजबूत स्त्री अपने अस्तित्व को पुरुष वर्चस्व से मुक्त रखने में सफल हो सकती है। स्त्री को ये बात समझने में बहुत समय लगा है परन्तु पुरुष सदैव ही इसके बारे में सचेत रहा। प्रभा खेतान लिखती हैं– "पैसे कमाने से स्त्री निर्णय लेना सीखती है और निर्णय की क्षमता उसके संघर्ष को मजबूत करती है। आज भी अधिकतर व्यापारिक प्रतिष्ठानों के नीचे के सारे काम लड़कियां करती हैं मगर बॉस पुरुष ही रहता है।"[2]

स्त्री में स्त्री होने की पीड़ा अधिक है। उसका सारा जीवन एक त्रासदी बन कर रह गया है। स्त्री एक ओर अगर शोषित है तो दूसरी ओर शोषण का सक्रिय 'एजेंट' भी है। वह ऐसे पुरुष से बंधी रहती है जिससे अकसर उसकी अस्मिता टकराती है। सवाल उठता है कि स्त्री इतनी विवश और लाचार क्यों है? उसका आत्मविश्वास कहां गया? वह मुक्त होने की कोशिश क्यों नहीं कर पा रही है? क्यों वह कोख के अन्धेरे से कब्र के अन्धेरे तक विलीन होने के लिए अभिशप्त है?

स्त्री जीवन का यही सच है– उसका 'वस्तुकरण' होता रहा है। उसकी भावना का महत्व खोता रहा है। नैतिक मूल्यों की गलत व्याख्या द्वारा सदैव उसको गुलामी के लिए तैयार किया जाता रहा। तमाम इतिहास और भूगोल की सीमाओं से परे स्त्रियों का दर्द एक जैसा रहा है। स्त्री की पीड़ा हाशिए पर पड़े लोगों की पीड़ा है जो चाहकर भी पीड़ा से मुक्त नहीं हो पा रहे हैं। स्त्री की पीड़ा के विविध रूप हैं। वह देह से भी पीड़ित है और दिल से भी। स्त्री संघर्ष की एक

---

[2] हंस (राजेन्द्र यादव) मार्च 2001, प्रभा खेतान का लेख 'हंस की नारीवादी उड़ान' पृ. 12

दिशा नहीं हो सकती। समाज का वह हर षड्यंत्र जिसने स्त्री को गुलाम बना रखा है स्त्री के संघर्ष की दिशा है। उसे सुकरात की उस मानसिकता से लड़ना है जो स्त्री को ''नरक का द्वार'' कहती है। स्त्री को मनु के उस षड्यन्त्र की पोल भी खोलनी है जिसके द्वारा स्त्री को सदैव पुरुष के अधीन रहने का आदेश दिया गया।

हिन्दी की चर्चित लेखिका चन्द्रकिरण सौनरेक्सा का जीवन स्त्री संघर्ष और पीड़ा का जीवन्त उदाहरण है। एक स्त्री आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होकर भी पुरुष के आगे कितनी लाचार है। परिवार को बचाने की कोशिश में स्त्री की जो दुर्गति होती रही है, चन्द्रकिरण उस पीड़ा की भुक्तभोगी रही हैं। चन्द्रकिरण का जीवन स्त्री का वह सच है जो बताता है कि केवल आर्थिक आत्मनिर्भरता से ही स्त्री–मुक्ति संभव नहीं है। स्त्री को मुक्ति के लिए समाज की पुरुषवादी मानसिकता से लड़ना पड़ेगा। स्त्री को मुक्ति के लिए उन तमाम संस्थाओं से लड़ना होगा जो स्त्री के सुखों पर कुण्डली मार कर बैठ गई हैं। पारिवारिक संरचना स्त्री दोहन के संदर्भ में सबसे बड़ी औपनिवेशिकता है। वह स्त्री को अपने विकास का समय ही नहीं देती। घर, बच्चे, नैतिकता के प्रश्न, दौड़ती हुई बछिया के गले में बंधे पत्थर हैं। घरेलू दायित्व भी जब तक साझा नहीं होते, स्त्री की मुक्ति असंभव है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के जीवन के सन्दर्भ में स्त्री के संघर्ष को सामाजिक संस्थागत संघर्ष, परिवेश एवं पृष्ठभूमिजन्य संघर्ष, पारिवारिक दायित्व का संघर्ष, सर्जन और प्रकाशन में विवशता का संघर्ष आदि रूपों में देखा जा सकता है।

(i) सामाजिक संस्थागत संघर्ष

सामाजिक व्यवस्था में स्त्री की स्थिति एक वस्तु की तरह रही है जिसका सदैव बाजारवादी दृष्टि से मोलभाव होता रहा। जैसे–जैसे मानव विकास के पथ पर अग्रसर होता रहा वैसे–वैसे स्त्री के प्रति उसका दृष्टिकोण संकुचित होता गया। वैदिक युग से अब तक का विकास स्त्रीवादी दृष्टि से नकारात्मक ही रहा है। वैदिक युग को छोड़कर बाद की सामाजिक व्यवस्था में स्त्री के अधिकारों की बात

करें तो कहीं भी वह अधिकारों की स्वतंत्र प्रयोगकर्ता नहीं रही। नाबालिग पुत्रों की संरक्षिका के आगे उसे नहीं बढ़ने दिया गया। यहां भी वह शासिका के रूप में नहीं संरक्षिका के रूप में ही समाज में स्वीकार की गई। मध्यकाल में रजिया सुल्तान एक अपवाद बनी जिसने स्वतंत्र रूप से शासन किया। कुशल प्रशासिका होते हुए भी रजिया को स्त्री होने के कारण समाज व्यवस्था से विरोध झेलना पड़ा। यहां तक कि रजिया के पतन का मुख्यकारण उसका स्त्री होना ही माना गया। रजिया को समाज स्वीकृति मिली भी तो इसलिए कि वह स्त्री की देह में पुरुष हो गई। पुरुषों जैसा पहनावा पहनने तथा घुड़सवारी करने में एक स्त्री में पुरुष का ही आभास हो रहा था। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई को भी उसके स्त्री रूप में नहीं मर्दानी रूप में समाज स्वीकृति मिली। रानी को ''खूब लड़ी जनानी वो तो झांसी वाली रानी थी'' के रूप में नहीं – ''खूब लड़ी 'मर्दानी' वो तो झांसी वाली रानी'' के रूप में याद किया जाता है। समाज व्यवस्था में अधिकार और सत्ता स्त्री के लिए निषिद्ध माने गये। अगर किसी स्त्री ने इनका उपभोग किया तो स्त्रीत्व का निषेध करके।

धार्मिक व्यवस्था में स्त्री को मुक्ति में बाधा माना गया। उसके मायावी रूप से सावधान रहने की बात बड़े–बड़े संत–फकीर कह गये। अग्नि परीक्षा से सीता अकेली गुजर रही है, राम को सहभागी बनाने की व्यवस्था नहीं है। यज्ञ कर्म में तो स्त्री पुरुष की सहभागिनी है परन्तु यज्ञ जनित फल में नहीं। पुण्य का फल अकेले पुरुष के हाथ लगता है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवताः' में नारी पूजा की बात तो होती है परन्तु यहां उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वह पूजी जाती है पुत्र को जन्म देने वाली मां के रूप में, वह पूजी जाती है पति की सेवा करने वाली पत्नी के रूप में। उसके प्रति पूजा भाव पुरुष के प्रति उसके उत्तरदायित्व से जुड़ा है। जहां भी उत्तरदायित्व में कमी आई उसका पूजनीय रूप खतरे में आ गया। सबसे बड़ी बात यह है कि उत्तरदायित्व का सर्टिफिकेट पुरुष के द्वारा ही दिया जाता है। साधु–संत ही स्त्री के सबसे बड़े निंदक है जबकि इनके प्रवचनों में पुरुषों की नहीं स्त्रियों की भीड़ रहती है। ऐसा लगता है कि

पुरुष को भक्तिभाव की जरूरत नहीं होती और स्त्री को बिना भक्तिभाव के मोक्ष नहीं मिल सकता। धार्मिक व्यवस्था में स्त्री बेबस और लाचार है। बाबा की सेवा में हाजिर नहीं होती है तो समाज उसकी आस्था पर शक करता है। सेवा में जाने से बाबा का मन फिसलता है तब भी वही दोषी है। इसमें बाबा का कोई दोष नहीं। हाल ही में राम जन्म भूमि न्यास के अध्यक्ष महंत नृत्यगोपालदास ने आदेश दिया है कि महिलाओं को अकेले मंदिर, मठ या देवालय में नहीं जाना चाहिए। अगर वे जाती हैं तो उन्हें अपने साथ पति, पुत्र या भाई को ले जाना चाहिए। महंत जी यह भी नहीं कह पाये कि महिलाओं को महिलाओं के साथ मंदिर, मठ या देवालय जाना चाहिए। मंहत जी का अभिप्राय है– स्त्री का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। उसे पुरुष के सहारे की जरूरत है। यह उदाहरण सिद्ध करता है कि धार्मिक संस्थाओं में पुरुष मानसिकता प्रभावी है। स्त्री को इसके खिलाफ लम्बी लड़ाई लड़नी पड़ेगी।

घर परिवार में लड़की को लेकर तनाव बना रहता है। लड़की की शादी बोझ उतारना बनकर रह गई है। विवाह की पवित्रता एक सिरे से गायब होती जा रही है। शादी के लिए लड़की की इच्छा का कोई महत्व नहीं। न केवल चन्द्रकिरण अपितु आम लड़की अपने परिवार में उपेक्षित बन कर रह जाती है। परिवार जल्दी से जल्दी अपनी जिम्मेदारी से मुक्त होना चाहता है। बकौल चन्द्रकिरण ''बीबी जी! लड़का देखने में अच्छा है। फटाफट अंग्रेजी बोल रहा है, वह तो एक दम राजी है। बस तुम्हारे भाई और मान जाये तो काम फतह है। हमारे सिर का बोझ उतर जायेगा। दुनिया के सामने सिर उठा कर चलेंगे। वरना आजकल जो–जो न हो थोड़ा। जान सूली पर ही टंगी रहती है।''[3] विवाह के बाद स्त्री का जीवन पति के साथ इस प्रकार जोड़ दिया जाता है कि उसके स्वतंत्र अस्तित्व के लिए संभावना भी नहीं रहती। पति की इच्छा पूर्ति में ही उसे अपना जीवन बिताना है। एक स्त्री पत्नीधर्म का पालन करके भी पारिवारिक जीवन में अपने लिए सम्मानजनक स्थान नहीं बना पाती। उसे पत्नी होने की पीड़ा ही

[3] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 163

झेलनी पड़ती है। पति का अन्य स्त्रियों के साथ संबंध भी उसे अपने व्यक्तित्व की कमजोरी का परिणाम नजर आता है। स्त्री को पत्नी होने के अधिकार की जगह पत्नी होने की पीड़ा झेलनी पड़ती है। पति के मुक्त भोगी चरित्र में भी उसे ही आत्म ग्लानि सहनी पड़ती है। वह पत्नी से पहरेदार बन जाती है। पति के कुकर्मों को छिपाने की जिम्मेदारी भी उसी की है। चन्द्रकिरण की पीड़ा उस स्त्री की पीड़ा है जिसने पति का हर कदम पर साथ दिया परन्तु बदले में उसे मिला अपमान, आत्मग्लानि, हीनता और पश्चाताप। आज्ञाकारी पत्नी होना ही उसके लिए अभिशाप बन गया। चन्द्रकिरण के शब्दों में "एक मात्र मौन ही मेरे दुःख का साथी था। आज मैं, और किसी को नहीं, बस स्वयं को इतनी आज्ञाकारी पत्नी होने पर दोषी ठहराती हूं। और यह कोई गर्व की नहीं दुःख की बात है। पश्चाताप के सिवा मेरे हाथ कुछ नहीं लगा।"[4]

सामंती मानसिकता वाले समाज में स्त्री सदैव पुरुष के हाथ का खिलौना बनी रही। उसे इतना कमजोर कर दिया गया कि प्रतिक्रिया की संभावना ही समाप्त हो गई। स्त्री का जीवन लाचारी का जीवन बन कर रह गया। स्त्री की संवेदना दमित और पीड़ित की संवेदना बन कर रह गई। स्त्री एक ऐसे समाज में रह रही है जहां उसकी हर गतिविधि पर प्रश्नचिह्न लगा है। समाज स्त्री पर जिम्मेदारियों का भार तो लाद रहा है परन्तु अधिकार सत्ता से उसे वंचित रखता है। समाज उससे अपेक्षा कर सकता है पर स्त्री समाज से क्या अपेक्षा करे। स्त्री और पुरुष दोनों ही एक दूसरे पर अधिकार जमाना चाहते हैं, फर्क यह है कि स्त्री त्याग और प्रेम के रास्ते को चुनती है जबकि पुरुष के पास एक ही रास्ता रहा है– अपने पौरुष के बल पर अधिकार जमाना। सवाल यह है कि स्त्री त्याग के रास्ते को क्यों चुनती है? क्या उसके सामने कोई दूसरा विकल्प है? त्याग का रास्ता चुनना उसकी मजबूरी है। उसके सामने विकल्प नहीं है। दूसरे रास्ते उसके लिए बंद हैं। बाकी रास्ते पुरुषों के लिए बने हैं। समाज व्यवस्था में स्त्री स्वत्व के लिए कोई स्थान नहीं। वह एक सामाजिक वस्तु है तथा उसका उपभोग पुरुष का

[4] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 317

सामाजिक अधिकार है। स्त्री घर को टूटने से बचाते–बचाते जिंदगी से टूट जाती है। मैत्रेयी पुष्पा स्त्री की इस पीड़ा को बयान करती हैं– ''घर टूटने की घटना जिंदगी टूटने से ज्याद त्रासद नहीं। विवाह किसी स्वर्ग से बंधी गांठ नहीं, मन का मामला है। स्त्री को इसी पवित्र मगर गलत व्याख्या को समझाकर गुलामी के लिए तैयार किया जाता है। वरन् वह तो जहां भी जाती है, घर बना लेती है, जहां से चली जाती है घर टूट जाता है।''[5]

स्त्री का संघर्ष ऐसी बुराइयों से है जो पुरुष मानसिकता से उपजी हैं। उसे समझना होगा ''शर्तों पर रिश्ते ज्यादा दिन जिंदा नहीं रहते हैं।''[6] स्त्री का त्याग और समर्पण उसकी कमजोरी बन गया। आर्थिक दृष्टि से सक्षम स्त्री भी पुरुष ज्यादतियों का शिकार होती रही है। पति को दूसरी स्त्रियों के साथ सम्बन्धों को लेकर पत्नी की ओर से कोई चिन्ता नहीं। हर बार स्त्री चाह कर भी गलत का विरोध नहीं कर पाती। उसको गलत में भी भागीदार बनना पड़ता है। चन्द्रकिरण की पीड़ा स्त्री की विवशता की पीड़ा है वे लिखती हैं– ''वास्तविकता यह थी कि बच्चों सहित थियेटर में रहती थी। कांति जी कमलेश से, जिसकी कोठी, उस हॉल के पास थी, मिलने जाते थे। एक बार तो फिल्म खत्म हो गई। मैं चपरासी के साथ बच्चों को लिए, खाली हॉल में बैठी रहीं। निष्फल क्रोध और अपमान से पीड़ित, चाहकर भी मैं कुछ नहीं कर पा रही थी।''[7] स्त्री प्रतिकार क्यों नहीं कर पा रही है क्योकि उसे पता है इस समाज में उसकी पीड़ा को समझने वाला कोई नहीं है। उल्टे उसके चरित्र पर ही सवाल उठाये जायेंगे। स्त्री ने समझौते को ही अपनी नियति मान लिया। अंतिम परिणति उसे पता है। ''अकड़ भी तब चलाई जाती है, जब किसी का ठिकाना मजबूत हो। उसमें भी अगर दोनों पक्ष एक दूसरे की अक्ल ही ठिकाने लगाते रहे तो रिश्ते न बने रहे– यह तो शाश्वत सत्य है– सारी दुनिया में झुकना औरत को ही पड़ता है।''[8]

---

[5] मैत्रेयी पुष्पा, 'सुनो मालिक सुनो', वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ. 80
[6] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 252
[7] वही, पृ. 281
[8] वही, पृ. 248

पुरुष पर विश्वास करना स्त्री की मजबूरी है। स्त्री का सजना संवरना भी उसकी मजबूरी है। ''कांत जी का कोई भरोसा नहीं, तेरे काले बाल रहते, कुछ न कुछ होता रहा–सफेद बाल देखकर तो न जाने क्या हो आगे।''[9] पुरुष मानसिकता वाले सामंती समाज में स्त्री विलासिता का साधन बनकर रह गई। सामाजिक व्यवस्था में उसकी भूमिका को पूरी तरह नकारा गया, जबकि समाज और संस्कृति को बचाने में स्त्री का योगदान पुरुष से बढ़कर है। ''स्त्री देह तकनीकी हस्तक्षेप से रहित नहीं, तकनीक स्त्री की प्रजननकारी क्षमता को पूरी तरह नियंत्रित करना चाहती है। धर्मयुद्ध और समाजपतियों की स्त्री समाज से यह अपेक्षा है कि संस्कृति की रक्षा स्त्री करे, क्योंकि भूमण्डलीकरण से आज सबसे अधिक खतरा समाज की सांस्कृतिक पहचान को है। यह स्त्री है जो अपने पारम्परिक पहनावे, विवाह व्यवस्था, संतान का भरण–पोषण, पारिवारिक रख रखाव के माध्यम से परम्परा की रक्षा करने में समर्थ है। यह स्त्री है जो सामाजिक परिवर्तन के भंवरजाल में परिवार व्यवस्था को थामे हुए है।''[10]

स्त्री जिस समाज व्यवस्था का हिस्सा है वहां व्यवस्था के नाम पर अव्यवस्था अधिक है, समानता के नाम पर असमानता अधिक है। लिंग भेद पर आधारित समाज में हर पल स्त्री को स्त्री होने का अहसास कराया जाता है। वह अपनों के बीच भी सुरक्षित नहीं है। उसे सच कहने से रोका जाता है। उसे पता है वह सच कह कर भी हार जायेगी और पुरुष झूठ कह कर भी उसे लाजवाब कर जायेगा। इतिहास साक्षी है कि पुरुष से बौद्धिक स्पर्द्धा स्त्री को हमेशा महंगी पड़ी है। युग और परिस्थितियां बदलने पर स्त्रियां आर्थिक रूप से स्वतंत्र हुई हैं लेकिन पुरुष आज भी स्त्री से अपने 'अहं' को सहलाने की अपेक्षा रखता है। स्त्री जीवन का सबसे बड़ा अन्तर्विरोध भी यह है कि वह चाहकर भी निर्णय के स्तर तक नहीं पहुंच पाती है। पुरुष की मित्रता से स्त्री मजबूत न होकर कमजोर होती रही है। मन्नू भण्डारी का आत्मकथ्य स्त्री जीवन के सच को सामने रखता है ''पर अपने प्रति हजार धिक्कार उठने के बावजूद मैं ऐसा कोई निर्णय नहीं ले पाई।

---

[9] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 326

[10] हंस (सं. राजेन्द्र यादव), अगस्त 2005, प्रभा खेतान का लेख 'पुरुषवादी नैतिकता, नारीवाद और भूमंडलीकरण' पृ. 58

क्या मेरी जिन रगों में एक समय खून की जगह लावा बहा करता था, अब पानी बहने लगा है? या कि दो वर्ष की मित्रता में मैं राजेन्द्र से इतने गहरे तक जुड़ गई थी कि उनको नकार देना मुझे अपने आपको नकार देने जैसा लगने लगा था ... या कि पिताजी की इच्छा के विरुद्ध अपनी इच्छा से की हुई शादी को मैं किसी कीमत पर असफल नहीं होने देना चाहती थी।''[11] स्त्री जीवन का एक पीड़ादायक सच यह भी है कि वह जिस किसी के साथ (पुरुष) मिलकर संघर्ष की शुरूआत करती है अन्त में वही उसके खिलाफ हो जाता है। स्त्री अपनी सफलता के लिए पुरुष का सहयोग चाहती है। वह पुरुष को अपना साझीदार बनाना चाहती है। उसे यह नहीं पता कि स्त्री की सफलता को पुरुष अपनी असफलता की तरह लेता है। स्त्री के संसार में पुरुष ही सब कुछ है जबकि पुरुष की दुनिया में स्त्री के लिए कोई स्थान नहीं। पुरुष मानसिकता में स्त्री उस वस्तु की तरह है जिसका उपभोग करना उसका धर्म है। समाज व्यवस्था में स्त्री कहीं सुरक्षित नहीं है। इस यथार्थ को उसे स्वीकार करना पड़ता है। स्त्री अपनी पीड़ा किसे सुनाये हर जगह उसे तमाशा बनने का खतरा है। बकौल चन्द्रकिरण ''मैने क्या करना या क्या कहना था– हमेशा की तरह इनकी बात को सुन लिया और चुप रह गई। उम्र के इस पड़ाव पर न मैं खुद तमाशा बनना चाहती थी और न इनका बनवाना चाहती थी।''[12]

स्त्री लेखन के किसी भी क्षेत्र में स्त्रियों ने जिन मुद्दों को उठाया है उनमे आम स्त्री की जीवन संवेदना निहित है। स्त्री पुरुष के खिलाफ नहीं है वह पुरुष मानसिकता में बदलाव चाहती है। वह बुराइयों का प्रतिकार चाहती है। स्त्री अपनी मुक्ति पुरुष के खिलाफ नहीं पुरुष के साथ चाहती है। पद्मा सचदेव की आत्मकथा ''बूंद बावड़ी'' स्त्री–मुक्ति के प्रसंग को स्त्री संवेदना के साथ जोड़ती है ''स्त्री को मुक्ति किससे चाहिए? अपने बच्चों से? उनके बाप से या उस घर से जिसमें तिनका–तिनका जोड़कर उसने गृहस्थी सहेजी है। मैं यह मानती हूँ कि स्त्री को मुक्ति उन बुराइयों से चाहिए जो आज ज्यादा बढ़ गई हैं।''[13]

---

[11] मन्नू भंडारी, 'एक कहानी यह भी', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 52
[12] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 297
[13] हंस (सं. राजेन्द्र यादव), जुलाई 2003, प्रभा खेतान का लेख 'स्त्री अन्तिम उपनिवेश' पृ. 75

स्त्री समाज–व्यवस्था में अपने अधिकार की मांग कर रही है। स्त्री सामाजिक संस्थाओं का बहिष्कार नहीं करती। वह अपने को समाज का अभिन्न अंग मानती है और उसका अभिन्न अंग बने रहना चाहती है। सामाजिक मान्यताओं का सच्चा निर्वाह अगर किसी ने किया है तो वह स्त्री ही है। अर्थ के प्रभाव से स्त्री की संवेदना दूषित नहीं हुई है। स्त्री हर दुःख–सुख में अपने परिवार के साथ रहती है। उसकी हर कोशिश रिश्तों को नष्ट होने से बचाने की होती है। अगर वह ऐसा नहीं कर पाती है तो इसका मुख्य कारण कहीं न कहीं पुरुष ही बनता है। पुरुष मानसिकता में पैसों का सवाल उठता है और स्त्री के दिल में रिश्तों की संवेदना। स्त्री आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होकर भी पुरुष का आदेश मानने को मजबूर है। एक ऐसा पुरुष भी जो पत्नी की कमाई पर निर्भर है अपने अहं को बनाये रखने के लिए उपदेश देता है। चन्द्रकिरण पुरुष अहं की शिकार स्त्री की पीड़ा यूं बताती है– "भाभी की मृत्यु पर भाई से मिलने नहीं जाना मेरे जीवन का सबसे दुःख भरा क्षण था जिसके लिए मैं अपने को कभी माफ नहीं कर पाई। मुझे इस बात की पीड़ा है कि आज्ञाकारी पत्नी होना भी मेरे दुःख का सबसे बड़ा कारण है।"[14]

(ii) परिवेश और पृष्ठभूमिजन्य संघर्ष

स्त्री को अपने अधिकारों की रक्षा एवं अस्तित्व के लिए परिवेश जन्य समस्याओं से संघर्ष करना पड़ता है। जिस परिवेश और पृष्ठभूमि में वह रह रही है या रही है उसमें स्त्री की स्वतंत्र सत्ता को सदैव नकारा गया है। स्त्री को जन्म से लेकर मृत्यु तक अपनी पृष्ठभूमिजन्य मान्यताओं से उबरने की कोशिश करनी पड़ती है। स्त्री का संघर्ष उपेक्षित का संघर्ष है। स्त्री अपने परिवेश में उपस्थिति दर्ज करवाने के लिए संघर्ष कर रही है। वह चारदिवारी से बाहर आकर सामाजिक गतिविधियों में स्त्री की भूमिका को रेखांकित कर रही है। स्त्री महसूस कर रही है कि चारदिवारी में बच्चों को जनने और पालने से समाज में उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं बन पायेगा। स्त्री का घर से बाहर कदम रखना ही परिवेश के खिलाफ उसके

---

[14] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 320

संघर्ष का आगाज है। स्त्री का आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होने का प्रयास पुरुष वर्चस्व वाले क्षेत्र में उसका प्रवेश है। इस दृष्टि से स्त्री का प्रत्येक कार्य पुरुष वर्चस्व को चुनौती है। जिस परिवेश में स्त्री को हर पल स्त्री होने का अहसास कराया जाता है वहां स्वावलम्बी बनने की उसकी कोशिश वस्तुतः स्त्री मुक्ति का संघर्ष है। स्त्री को अपने आस–पास की प्रत्येक स्थिति से लड़ना पड़ता है। 19वी सदी के उत्तरार्द्ध में एक अज्ञात हिन्दू महिला ने 'सीमन्तनी उपदेश' लिखकर स्त्री पीड़ा को समाज के सामने चेतावनी के स्वर में रखा। ''हे परमेश्वर हमारी फरियाद सुन। हम मजलूमों की फरियाद पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। हमने इस हिन्दुस्तान में चारो तरफ पुकार–पुकार और रो–रो के हरेक के सामने फरियाद की, लेकिन किसी ने हमारे बावैल पर कान न धरे, न पलक उठाकर के देखा। हमने खूब गौर से इस दुनिया को देख लिया, मगर सिवा तेरे हमारी बेकसी, बेबसी, बेकद्री, बेइज्जती की फरियाद को सुनने वाला कोई नजर न आया। तू गौर से हमारी फरियाद सुन। मुद्दत से हिन्दियों के दिमाग में जहालत की अंधेरी चल रही है। उससे जुल्म की गर्द उड़–उड़ कर हमारे ऊपर पड़ रही है। हे जगत् पिता क्या तुमने हमको पैदा नहीं किया? क्या हमें पैदा करने वाला कोई और खुदा है? लोगों ने तेरा नाम मर्द करार दिया, इसलिए तू भी हिन्दियों की तरह बेरहम बन गया है। अगर तुमको हमारी यह हालत मंजूर थी तो हमारी पैदायश किसी और तरह से करता जिससे हमको भी तसल्ली होती। और मजलूमों की फरियाद तो दुनिया की अदालत में सुनी जाती है, क्या तूने हम मजलूमों के लश्कर को देखकर अपनी अदालत का दरवाजा बन्द कर दिया है। अब हमें इस दुनियां में सिवा तेरे किसी से उम्मीद नहीं जो इस विपत सागर से हमें पार उतारे। अब हम तुझसे बार–बार यही प्रार्थना करते हैं कि इस अविधा के घोर सागर से निकाल ले।''[15]

''सीमन्तनीउपदेश'' मे जिन मुद्दो को उठाया गया है वे स्त्री जीवन के सच को सामने लाते हैं। स्त्री अपने परिवेश में किस प्रकार उपेक्षित है, किस प्रकार

---

[15] आलोचना (प्र.स. नामवर सिंह) अक्टूबर–दिसम्बर 2009, गरिमा श्रीवास्तव का लेख 'प्रतिरोध की संस्कृतिः स्त्री आत्मकथाएं' पृ. 94

उसका सम्पूर्ण जीवन कर्मकाण्डों व रूढ़ियों में जकड़ दिया गया है। उसे हर जगह जुल्म का शिकार होना पड़ता है। परिवेश के प्रति स्त्री की यह प्रतिक्रिया बताती है कि प्रत्येक युग में स्त्री जीवन घोर मुश्किलों के दौर से गुजरा है। शादी से पहले लड़की की प्रत्येक कार्यविधि को मां–बाप की इज्जत के साथ जोड़ दिया जाता है तो शादी के बाद पति की इज्जत के साथ। स्त्री का परिवेश उसके प्रति सदैव निर्दयी रहा है। हर बार स्त्री को ही संस्कारी बनने का उपदेश दिया जाता है। और वह जितना संस्कारी बनने की कोशिश करती है उतना ही उसे कुसंस्कारी घोषित करन का प्रयास किया जाता है। मल्लिका अमरशेख का आत्मकथ्य स्त्री के संघर्ष और पीड़ा को यूं बयान करता है "मैं तो यह मानती हूं कि मर्द की न कोई जाति होती है न संस्कारों से उसका कोई वास्ता। नारी के पास वह होता है –यह दावा तो मैं नहीं करूंगी, पर भारतीय संस्कृति को मैं मृत पशु मानती हूं। हर आदमी अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए उसकी खाल नोचकर उसे अपनी तरह से ओढ लेता है। लेकिन उस खाल के नीचे उसका जो असली रूप छिपा हुआ है, वह बेहद घिनौना और भोडा है।"[16]

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने 'पिंजरे की मैना' में जिस स्त्री के परिवेश और पृष्ठभूमिजन्य संघर्ष को अपने आत्मकथ्य द्वारा अभिव्यक्त किया है वह एक स्त्री का नहीं उस युग विशेष में स्त्री जाति का संघर्ष है। घर–परिवार में एक आम स्त्री जिन समस्याओं को झेल रही है उसकी एक पात्र चन्द्रकिरण भी है।

वे जिस परिवेश और पृष्ठभूमि में जीवन जी रही है वहां हर पल उसे शक के नजरिए से देखा जाता है। स्त्री चाहे शहर की हो या गांव देहात की हो, वह कहीं पर सुरक्षित नहीं है। अगर वह अकेली रहने की कोशिश करती है तो समाज उससे सवाल करता है। वह पति के साथ रहकर जीवन जीने की कोशिश करती है तो पति उससे सवाल करता है। स्त्री बचपन से लेकर मृत्यु तक सवालों का उत्तर देती हार जाती है उसका जीवन सफाई देते–देते ही खत्म हो जाता है। स्त्री को अपने हर रिश्ते की सफाई देनी पड़ती है। एक तरफ उसकी देह को

---

[16] आलोचना (प्र.स. नामवर सिंह) अक्टूबर–दिसम्बर 2009, गरिमा श्रीवास्तव का लेख 'प्रतिरोध की संस्कृतिः स्त्री आत्मकथाएं' पृ. 97

लेकर सवाल किये जाते हैं तो दूसरी तरफ उसे यह नसीहत दी जाती है कि अपने उत्पीड़न की कहानी किसी से भी मत कहना। स्त्री जब अपनी इच्छा से किसी के साथ सम्बन्ध बनाती है तो सवाल–पर–सवाल दागे जाते हैं। उसे सफाई देने के लिए कहा जाता है परन्तु जब उसका बलात्कार होता है तब उसे अपनी पीड़ा कहने का काई अधिकार नहीं। स्त्री जो कहना चाहती है उसे कोई सुनने वाला नहीं है। जिसके बारे में उसके पास कहने को कुछ नहीं उसको लेकर उसे सफाई देने के लिए मजबूर किया जाता है। स्त्री की इस दशा पर प्रभा खेतान ने वाजिब सवाल किया है "उस दिन दाई मां ने भी तो यही कहा था– काहू से ना कहिये– अपने पति से भी नहीं– पर क्यों? उत्पीड़न के बावजूद औरत से खामोश रहने को क्यो कहा जाता है?"[17]

स्त्री जिस समाज व्यवस्था का अंग है उस समाज में उसके लिए कहीं भी सुरक्षित स्थान नहीं। शोषण और उत्पीड़न के सारे हथकंडे स्त्री पर ही आजमाये जाते हैं। स्त्री को इस प्रकार दबाया और कुचला जाता है कि उसकी प्रतिकार करने की शक्ति स्वीकार करने की नियति में बदल जाती है। उसके सामने न तो सुरक्षित भविष्य है और न ही गौरवपूर्ण अतीत। उसे जो सिखाया जाता है या जो वह अनुभव करती है उसमें उसके लिए पीड़ा और वेदना के अतिरिक्त कुछ नहीं होता है। वह जहां से भी शुरू करे या जैसे भी शुरू करे अन्तिम परिणति वेदना के अथाह सागर के रूप में होती है। दैहिक उत्पीड़न के साथ उसे मानसिक उत्पीड़न के दौर से गुजरना पड़ता है। स्त्री चाहे गरीब परिवार से हो या सम्पन्न परिवार से इससे उसके उत्पीड़न के स्तर पर कोई अन्तर नहीं आता। परिवेश और पृष्ठभूमि उसका सुदृढ़ पक्ष न होकर कमजोर पक्ष ही बने रहे हैं। स्त्री आर्थिक दृष्टि से सक्षम होकर भी शोषित और उत्पीड़ित है। स्त्री के सबल पक्ष के साथ पुरुष अपने आपको जोड़ लेता है, स्त्री की कमजोरियां सिर्फ और सिर्फ उसकी अपनी होती हैं। पुरुष प्रत्येक स्तर पर स्त्री को कमजोर करने में लगा रहता है। वह सुख में भागीदार है पर दुःख में नहीं। उसमें अन्तरंगता सिर्फ एक बिस्तर पर सोने की है जिम्मेदारियों को उठाने की नहीं।

---

[17] प्रभा खेतान, 'अन्या से अनन्या', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 73

चन्द्रकिरण का जीवन जिस परिवेश और पृष्ठभूमि में गुजरा है वह एक सामान्य स्त्री का जीवन है। चन्द्रकिरण की समस्याएं आम स्त्री की समस्या है। चन्द्रकिरण को जीवन भर जिस अग्निपरीक्षा के दौर से गुजरना पड़ा है वह भी स्त्री जीवन का एक अंग है। पारिवारिक उत्तरदायित्वों को कुशलतापूर्वक निभाने वाली स्त्री पुरुष वर्चस्व के आगे किस प्रकार हार जाती है इसका उदाहरण भी चन्द्रकिरण से बढ़कर क्या हो सकता है? पुरुष के झूठ को जानते हुए भी विश्वास करना उसकी मजबूरी हो जाती है। ऐसा नहीं है कि स्त्री को पुरुष से शिकायत नहीं है। हो सकता है स्त्री को पुरुष से अधिक मात्रा में शिकायत हो और वह वाजिब भी हो। परन्तु स्त्री को शिकायत करने का अवसर ही कब मिलता है वह तो शिकायतों का उत्तर देते–देते थक चुकी होती है। उसे यह भी पता है कि स्त्री की शिकायत को सुनना पुरुष संस्कृति का हिस्सा नहीं है। स्त्री पुरुष वर्चस्व के हथकण्डों से अनजान भी नहीं है परन्तु हर समय और हर जगह वह मजबूर है। बकौल चन्द्रकिरण – "हमेशा की तरह, कांति जी ने अपनी गलती स्वीकार करते हुए सब कुछ भूल जाने का वादा किया। विश्वास करना मेरी मजबूरी थी।"[18]

स्त्री संसार में पुरुष के लिए विशिष्ट स्थान है। पुरुष के अभाव की कल्पना भी उसे बेचैन कर डालती है। उसे इस प्रकार से संस्कारित किया जाता है कि वह पुरुष बंधन में बंधे रहने की अपनी छवि से मुक्त होना भी नहीं चाहती है। हर पल उसे यही चिन्ता सताती है कि दुनिया क्या कहेगी। स्त्री पुरुष के साथ अपने सम्बन्ध को सिर्फ अपने तक सीमित नहीं रखती है। वह अपने पूरे परिवार और समाज को अपने साथ रखती है। वह पुरुष का अत्याचार सहन कर सकती है परन्तु अपने बच्चों का भविष्य खराब नहीं होने देना चाहती। उसे उत्पीड़न मंजूर है परन्तु वह स्त्री समुदाय की छवि को खराब नहीं होने देना चाहती। स्त्री जितना त्याग करती है पुरुष समाज उतना ही उसके प्रति क्रूर होता जाता है। ऐसे क्रूर समाज और क्रूर परिवेश से बचकर स्त्री कहां जाये। उसे तो इसी क्रूर समाज में रहना है और इसी परिवेश की क्रूरता को झेलना है। समाज स्त्री के प्रति चाहे

---

[18] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 299

कितना ही क्रूर क्यों न हो जाये स्त्री समाज से अपने आपको जोड़े रखना चाहती है। परिवेश की त्रासद और बेतुकी क्रूरता के आगे स्त्री अकेली है। ऐसे परिवेश में स्त्री की तमाम सफलताएं सामाजिक कसौटी पर पछाड़ खाने लगती हैं। उसकी सारी उपलब्धियां इस क्रूरता के आगे अपनी चमक खो देती हैं। उसकी स्वतंत्रता भी जहरीली स्वतंत्रता ही होगी जहां शांति नहीं तनाव ही अधिक होगा। पुरुष हर बार यही कहता है कि यह परिवार तुम्हारा है। यह बच्चे तुम्हारे हैं यानि उत्तरदायित्व भी तुम्हारा है। पुरुष 'तुम्हारा' कहकर उत्तरदायित्व से साफ बच निकलता है। स्त्री तुम्हारा सुनकर उनके लिए अपना पूरा जीवन खपा देती है। यही कारण है कि पूरे घर का आर्थिक भार उठाने वाली महिला के पास अपने नाम पर दस रुपये भी नहीं होते जबकि पत्नी की कमाई पर निर्भर रहने वाले पति के पास दस रुपये नहीं देने का अधिकार भी आ जाता है। पुरुष की इसी मानसिकता को चन्द्रकिरण यूं बयां करती है– "तुम्हें मैंने मद्रास में दस रुपये नहीं दिये तो तुम जरूर रास्ते भर मुझे कोसती गयी होगी। तुम्हारा कोसना सफल हुआ। बम्बई स्टेशन पर मेरा बक्सा तौला गया और मुझे पंद्रह रुपये जुर्माना देना पड़ा। पर कोसना तुम्हें ही नहीं आता मुझे भी आता है। मैं अभिशाप देता हूं कि तुम जीवन भर भीख मांगोगी। तुम्हारे लड़के बेयरे बनकर होटलों की जूठन खायेंगे और तुम्हारी लड़कियां कोठों पर बैठेंगी। मैं अब लखनऊ आऊंगा तो कहीं और ठहरूंगा। तुम्हारे हाथ का खाना तो दूर, कभी पानी भी नहीं पिऊंगा।"[19] पुरुष समाज ने अभिशाप देने का ठेका ले रखा है। इतिहास गवाह है ऋषि मुनियों से लेकर आज तक अभिशाप का बेतुका हथियार पुरुषों के पास रहा है। स्त्री ने अगर कभी भूल से इसका प्रयोग कर भी लिया तो अपने लिए नहीं पुरुष के लिए ही किया है। वह चाहे पति के लिए किया गया हो या पुत्र के लिए। पुरुष के कर्त्तव्यों को सफलतापूर्वक निभाने वाली स्त्री को भीख मांगने का अभिशाप देने का साहस पुरुष के पास आ जाता है, परन्तु स्त्री तो उलटकर यह भी नहीं पूछती कि भीख के रुपयों का उपयोग कौन करेगा। वह तो यह भी नहीं कहती कि वह भीख मांगेगी यह तो आगे की बात है अभी भीख मांगने जैसी स्थिति किसकी है?

---

[19] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 339

अभिशाप देने में इतना क्रूर और कठोर पुरुष अपने स्वार्थ के लिए अपनी मजबूरी के लिए इतना लचीला क्यों बन जाता है। वही पति जो पानी तक नहीं पीने की बात कर रहा था अब क्यों कह रहा है ''अरे भाई सुनती हो, एक रुपया भिजवाओ, रिक्शे वाले को देना है।'8[20]

पुरुष वर्चस्व वाले सामाजिक परिवेश में स्त्री को सब कुछ अकेले ही झेलना पड़ता है। उसे पागल, डायन, गिरी हुई, भटकी हुई, उद्भ्रान्त या रण्डी जैस छद्म नाम दिये जाते हैं। पुरुष के अवैध सम्बन्धों पर सवाल करने वाला कोई नहीं परन्तु स्त्री के वैध संबन्ध भी अवैध करार दिये जाते हैं। ऐसा नहीं है कि स्त्री एकदम पाक–साफ है। स्त्री भी कहीं न कहीं जिम्मेदार है। वह पुरुष का सहारा चाहती है। पुरुष के साथ मिलकर वह आगे बढ़ना चाहती है। वह यह जानती है कि पुरुष का सहारा उसे और अधिक बेसहारा कर देगा फिर भी वह बार–बार पुरुष को आजमाती है। वह पुरुष प्रकृति को समझने की कोशिश नहीं करती। वह तो अपने व्यक्तित्व में ही कमियां खोजने लगती है। पति की बेवफाई उसे हीनता ग्रन्थि का शिकार बना देती है। चन्द्रकिरण स्वीकार करती हैं– ''कांतिजी के आये दिन के प्रेम प्रसंगों के कारण, मैं सोचने लगी थी कि मेरे व्यक्तित्व में गोरे रंग और प्रभावशाली हाव–भाव की कमी है, जो ये सुन्दर स्त्री की ओर आकर्षित हो जाते हैं।''[21]

स्त्री के जीवन में उसका परिवेश और पृष्ठभूमि उसके प्रत्येक कार्य में अनावश्यक रूप से हावी हो जाते हैं। विशेषतः नकारात्मक रूप में ही उसका परिवेश उसके सामने लाया जाता है। उसकी सफलता के प्रयास को आतंकित करने के लिए, उसके आत्म विश्वास को समाप्त करने के लिए। बेटी ताउम्र मां के लिए कसौटी बनी रहती है। बेटी के व्यक्तित्व से ही मां के व्यक्तित्व का मूल्यांकन किया जाता है। हर बार यही कहा जाता है जैसी मां वैसी बेटी। स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता। मां चाहती है कि उसने जो झेला वह बेटी न झेले। कोई मां अपनी बेटी को अपने जैसा नहीं बनाना चाहती है। स्त्री के रूप

---

[20] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 340
[21] वही, पृ. 316

में जो दुःख भोगा है वह बेटी को नहीं भोगने देना चाहती। परन्तु औरत की एक ही कहानी होती है। मैत्रेयी पुष्पा के शब्दों में कहें तो "बेचारी कभी पेट में बच्चे पालती है, कभी गोद में। गोद का बड़ा न होता, तक तक फिर पेट में आ जाता है। चालीस के होते होते देह झोला हो जाती है और बच्चा जनने में ही एक दिन खत्म हो जाती है।"[22] स्त्री, व्यवस्था के आगे विवश है। समझौते और पश्चाताप के सिवा उसके हाथ कुछ नहीं लगता है। अन्तिम परिणति में वह स्वयं को ही दोषी ठहराते हुए पुरुष वर्चस्व वाले सामाजिक कटघरे में कैद हो जाती है।

(iii) पारिवारिक उत्तरदायित्व और संघर्ष

पारिवारिक उत्तरदायित्व का भार स्त्री के लिए कभी कम नहीं रहा है। घर की चार दिवारी में रहकर भी उसने घर की जिम्मेदारी को पुरुष से बेहतर निभाया है। बच्चों की शिक्षा, संस्कार सब मां के उत्तरदायित्व के महत्वपूर्ण हिस्से हैं। ऐसा नहीं है कि समय के साथ स्त्री जीवन में परिवर्तन नहीं आया हो। भूमण्डलीकरण का प्रभाव कहें या औपनिवेशवाद की उपज स्त्री चारदिवारी से बाहर निकली है। वह घर–परिवार के आर्थिक भार को निभाने में सक्षम हो रही है। आर्थिक गतिविधियों में स्त्री ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाना शुरू कर दिया है। आर्थिक संसाधनों के संबंध में उसकी समझ पुरुष से अधिक सफल हो रही है। घर से बाहर भी स्त्री की सक्रिय भूमिका दिखाई पड़ रही है। स्त्री आत्मनिर्भर हो रही है। स्त्री जीवन में परिवर्तन के साथ उत्तरदायित्व का भार भी बढ़ रहा है। घर से बाहर क्या निकली घर का पूरा अर्थ–भार उसके ऊपर आ पड़ा है। पति का साथ देने निकली स्त्री यहां भी अकेली रह जाती है। पति अपने उत्तरदायित्व को स्वयं ही कम कर लेता है। स्थिति यहां तक आ जाती है कि स्त्री की भूमिका निभाते–निभाते वह पुरुष की भूमिका में भी आ जाती है। अब वह घर में भी खप रही है और घर के बाहर भी। स्त्री जीवन का यह सच है कि आर्थिक स्वावलम्बन से उसका तनाव घटा नहीं बढ़ा है। अब पुरुष उसे अपने प्रतिद्वन्द्वी के रूप में देखता है। पुरुष ने गृहस्थी में उसके श्रम को कभी स्वीकारा नहीं, अब मुख्यधारा में उसकी भूमिका को

---

[22] मैत्रेयी पुष्पा, 'कस्तूरी कुडल बसै', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 288

कैसे स्वीकार कर ले। स्त्री घर को टूटने से बचाने के लिए निकली थी, अब उसे ही घर टूटने का कारण माना जा रहा है। रुपये वह कमा रही है और नियंत्रण पुरुष के हाथ में है। कैसे खर्च करना है? कहां खर्च करना है? इसका निर्णय पुरुष कर रहा है। ऊपर से एक ही बात उसे सुनाई जाती है– ''मुझे मत सुनाओ, थूकता हूं तुम्हारे पैसे पर।''[23]

पुरुष स्त्री पर अपने अहं को लेकर इतना सचेत रहता है कि बहुत बार वह बेतुका नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश करता है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने पति कांतिचन्द्र की इसी पुरुष मानसिकता को झेला है। तबियत खराब होने के कारण तथा आकाशवाणी केन्द्र से लेने आने वाली गाड़ी के समय पर नहीं पहुंचने पर वह टैक्सी लेकर आकाशवाणी केन्द्र चली जाती है। ऐसे में पति की प्रतिक्रिया क्या हो सकती है– ''अरे कार नहीं आयी थी तो क्या! तांगे से चली जाती। डेढ़ रुपये में पहुंचा देता, लौटने में कार मिल ही जाती। तुम्हें तो दस रुपये नुकसान कोई नुकसान नहीं लगता।''[24]

शादी से पहले चन्द्रकिरण का जीवन घर की चारदिवारी तक ही सीमित था। घर की आर्थिक स्थिति काफी अच्छी थी। घर में नौकर चाकर थे। फिर भी पारिवारिक मान–मर्यादाओं का भार इतना अधिक था कि वह उसमें घुट रही थी। शादी के बाद जीवन में बड़ा परिवर्तन आया। आरम्भ में सर्जनात्मक प्रतिमा को विकसित होने के अवसर मिले। बाहरी दुनिया को देखने के अवसर के साथ ही पारिवारिक उत्तरदायित्वों विशेषतः आर्थिक जिम्मेदारियों का भार भी उन पर आ पड़ा। पिता के घर में अभाव से दूर रहने वाली चन्द्रकिरण का आर्थिक समस्याओं से सामना हुआ। पति ने शुरू से अपने को गैर जिम्मेदार बना लिया था। रहने के लिए किराये के घर से लेकर राशन–पानी की व्यवस्था स्वयं को ही करनी थी। उस पर भी आये दिन पति द्वारा आमन्त्रित अतिथियों का भार भी एक बड़ी समस्या थी। घर में आर्थिक अभाव ओर दोस्तों की आवभगत के बीच चन्द्रकिरण का जीवन फंस गया। फिर भी उसने कभी पति से शिकायत नहीं की। अपनी नौकरी

---

[23] प्रभा खेतान, 'अन्या से अनन्या', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 211
[24] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 198

और घर के बीच एक सन्तुलन बना कर चली। आर्थिक समस्य और मानवीय रिश्तों को हमेशा अलग रखती रही। मानवीय रिश्तों को निभाने के लिए आर्थिक स्थिति को आड़े नहीं आने दिया। संकट के दौर में भी वह पति के मित्रों की आवभगत के साथ आर्थिक मदद भी करती रही। चन्द्रकिरण ने अपने अस्तित्व को सदैव अपने परिवार के साथ जोड़ा। उसमें आधुनिक कामकाजी महिलाओं की तरह मुक्ति की छटपटाहट नहीं रही। वह अपने घर–परिवार में समस्याओं और शिकायतों के बावजूद भी खुश महसूस कर रही थी। परिवार को टूटने से बचाने के लिए कदम–कदम पर उसने समझौते किये। हर समस्या को चाहे वह पति द्वारा जानबूझकर पैदा की गई हो, चन्द्रकिरण ने कुशलतापूर्वक झेला। रिश्तों को जिन्दा रखने के लिए स्त्री स्वभाव के विपरीत अत्याचार सहकर भी मौन बनी रही। भले ही आज वह पश्चाताप कर रही हो– ''ऐसे ही अवसरों के समझौतों ने हमारे जैसे लोगों को समझदार कम और कमजोर ज्यादा सिद्ध किया है। आज की पीढ़ी इन्हीं मौका का दामन पकड़ कर दूसरे का सच उसी के मुंह पर मारकर स्वयं को विजयी सिद्ध करने का आनंद लेना ज्यादा पसंद करती है। बजाय रिश्तों को बचाये रखने के लिए, चुप रहने के।''[25]

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की पारिवारिक समस्याएं आम भारतीय स्त्री की समस्याएं है। वह उस स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है जो आर्थिक दृष्टि से सक्षम होकर भी पति द्वारा जीवन भर उत्पीड़न झेलती है। हमारी समाज व्यवस्था का यह एक बड़ा सच है कि कहने को स्त्री की पराधीनता का कारण उसका आर्थिक दृष्टि से कमजोर होना माना जाता है। वस्तुस्थिति इससे अलग ही सामने आती है। स्त्री आर्थिक दृष्टि से सक्षम होकर भी पुरुष वर्चस्व के आगे दबी–कुचली रहती है। पुरुष उसकी आर्थिक सबलता को कभी स्वीकार नहीं करता। वह उसे अपना सहयोगी न मानकार प्रतिद्वन्द्वी मानकर चल रहा है। स्त्री पुरुष का विश्वास जीतने की कोशिश करती है और पुरुष स्त्री पर अपने अविश्वास को और अधिक मजबूत करने में लगा रहता है। पत्नी के सम्पर्क में आने वाले हर पुरुष को वह

---

[25] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 249

सन्देह की दृष्टि से देखता है। स्त्री को दबाये रखना चाहता है, चाहे वह पत्नी हो या प्रेमिका। स्त्री चाहे किसी भी रूप में हो पुरुष के आगे लाचार और विवश हो जाती है। वह मित्र होकर भी बराबरी का दावा नहीं कर सकती। प्रभा खेतान जैसी व्यापारिक महिला ने जिसने अपने से दोगुनी उम्र के पुरुष से प्रेम किया, उसके लिए सामाजिक बन्धनों को नकार दिया, अविवाहित होकर भी पत्नी की तरह बनी रही, अपने जीवन में क्या पाया, स्वयं प्रभा खेतान को यही शब्द सुनने पड़े कि "अरे छोड़ो ये जुमले! तुम इस हद तक गिरी हुई हो मैं सोच भी नहीं सकता था। कहो और कितने यार हैं तुम्हारे? और कितने चक्कर चलाओगी तुम?"[26]

पुरुष संवेदना शून्य हो सकता है यह अलग बात है। स्त्रियां स्वभाव से संवेदनशील होती हैं परन्तु कांतिचन्द्र का व्यवहार और चन्द्रकिरण की संवेदना एक दूसरे के एकदम विपरीत है। पति के लिए घर–परिवार रिश्ते–नाते का कोई महत्व नहीं है। वह एक शिथिल और जड़ पुरुष है जिसके लिए पत्नी की संवेदना का कोई मूल्य नहीं। वह हर रिश्ते को आर्थिक दृष्टि से मूल्यांकित करता है। वह घोर औपचारिक पुरुष है। शोक जताने के अवसर पर भी आर्थिक बुद्धि को नहीं त्याग पाता। पारिवारिक सदस्यों के दुःख में शामिल होने जाना तो दूर पत्नी को भी नहीं जाने देता। बड़ी भाभी की मृत्यु के प्रसंग में चन्द्रकिरण की संवेदना "अभी महीना पहले ही तो तुम गई थी। भाभी को देखने, अब जाकर क्या करोगी? पैसे–पैसे को दाँत से पकड़ती हो। यह खर्चा कहां से करोगी?"[27] पत्नी विवश है भाई के दुःख में शामिल न होने की पीड़ा उसे जीवन भर सताती है। अन्त में उसे स्वीकार करना पड़ता है कि "एक मात्र मौन ही मेरे दुःख का साथी था। आज मैं और किसी को नहीं, बस स्वयं को इतनी आज्ञाकारी पत्नी होने पर दोषी ठहराती हूँ। और यह कोई गर्व की नहीं दुःख की बात है। पश्चाताप के सिवा मेरे हाथ कुछ नहीं लगा।"[28]

---

[26] प्रभा खेतान, 'अन्या से अनन्या', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 164
[27] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 316
[28] वही, पृ. 317

उसी पुरुष का दूसरा रूप देखिये। पारिवारिक दुःख में शामिल होने से रोकने के लिए आर्थिक समस्याओं का बहाना बनाया जाता है। रुपये पत्नी कमा रही है परन्तु खर्च करने का आदेश पति दे रहा है। भाभी की तेरहवीं पर पत्नी को नहीं भेजा गया पर शन्नो (लड़का) के जन्म पर बड़ी दावत दी जा रही है। इसका सीधा अर्थ यही है मर्जी पुरुष की चलेगी। पत्नी की इच्छाओं का दमन हो तो हो। ऐसे पुरुष के साथ जीवन काट देना क्या किसी त्याग से कम है। इस संवेदनाशून्य रिश्ते के लिए न जाने कितनी बार पत्नी को झुकना पड़ा है? जिस सामाजिक ढांचे का वह एक अंग है उसका स्थान कहां है? वह अपने अधिकारों की मांग क्यों नहीं कर पा रही है? समाज हर बार स्त्री से ही क्यों अपेक्षा करता है? पुरुष की गैरजिम्मेदारी को समाज की स्वीकृति कैसे मिल जाती है? हर बार दोष स्त्रियों के सर पर क्यों मढ़े जाते हैं? पुरुष की गलतियों पर पश्चाताप की अग्नि में स्त्रियां क्यों जल रही हैं? समाज में बहुविध बदलाव देखे गये हैं परन्तु स्त्रियों के प्रति समाज में बदलाव क्यों नहीं आ रहा है? चन्द्रकिरण जैसी स्त्रियों की पीड़ आज भी मौन क्यों है? समाज के नैतिक मानदण्ड स्त्री और पुरुष के प्रति अलग–अलग कब तक चलते रहेंगे? यह ऐसे सवाल हैं जिनका कारण भी एक है और उत्तर भी एक। पुरुष वर्चस्व की मानसिकता को खारिज किये बिना इन सवालों का समाधान संभव नहीं। जो समाज स्त्री के प्रति न्यायोचित व्यवहार नहीं करता। समय की मांग है कि जो समाज बदलाव को स्वीकार नहीं करता उसे बदल डालो। चन्द्रकिरण जैसी स्त्रियां कब तक पति के अवैध–विवाहेतर सम्बन्धों में पहरेदारी करती रहेगी?

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा उस स्त्री का प्रतीक है जिसके त्याग और समर्पण को कमजोरी मानकर उसे पीड़ित किया जाता रहा है। जो झगड़ालु और पलायनवादी पति के साथ जीवन भर तालमेल की कोशिश करती रहती है। जिसने इसी आशा में बुरे दिन काट दिये कि वक्त बदलेगा और इसी इन्तजार में दुनिया छोड़ दी। जीवन के अन्तिम पड़ाव पर भी पति उतना ही कठोर, उतना ही अहंवादी बना रहा। स्त्री जीवन के इस सच की अनुभूमि गरिमा श्रीवास्तव के शब्दों में "बीच में

चन्द्रकिरण टोकती हैं, लेकिन पति कांतिचन्द्र हावी हैं। मुझे समझ मे आने लगा है कि उनकी उपस्थिति में खुलकर बात न हो पाएगी। चन्द्रमा को राहु ने ग्रस लिया है। कुछ ऐसा कि बीस–पच्चीस वर्षों में उन्होने कुछ लिखा ही नहीं। पुरुष अपने आधिपत्य में स्त्री की प्रतिभा को नोक पलक, छील काट, दुरुस्त कर कैसे अपने अहं को तुष्ट कर सकता है, यह देखने की बात है। चन्द्रकिरण बहुत से मुद्दों पर बोलना चाहती है। कांति जी का कहना है– "मैंने इनकी कहानियां संभाली, छपवाई ये अपने बारे में क्या कहेंगी। जो कहना होगा मैं कहूंगा।... साढ़े तीन घंटे की मशक्कत के बाद भी कुंठित वृद्ध की आत्मश्लाघा ही पल्ले पड़ती है और एक स्त्री रचनाकार के जीवन संघर्ष के कुछ टुकड़े, वह भी जो चन्द्रकिरण कह नहीं पातीं। मौन ही आँखें मूँद लेती है।"[29]

पारिवारिक उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में स्त्री–जीवन की छोटी–छोटी बातें बड़े मार्मिक ढंग से 'पिंजरे की मैना' में देखने को मिलती हैं। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने समाज की वस्तुस्थिति को एक अनुभूति के साथ समझा है। घर–परिवार में शादी के अवसर पर पहली बार दुल्हन के साथ सोने के आभूषण और अच्छी साड़ियां नहीं भेजी गईं। देवर स्वराज्य की शादी के सन्दर्भ में चन्द्रकिरण लिखती हैं– "इस बार बहू मायके से गले में हार और कंगन सहित अन्य आभूषण भी लेकर आई थी। साड़ियां भी मां ने नई–नई कीमती दी थीं। शायद शादी के समय इसी डर से कुछ नहीं दिया था बिटिया को कि जेठानी और नन्दें कोई जेवर या साड़ी न रख ले। इसे दुनियादारी के नाम से आप आज भी बुद्धिमानी का नाम देंगे– मैंने तब इसे मन का छोटापन माना था और आज भी यही मानदण्ड है मेरा।"[30]

चन्द्रकिरण के व्यक्तित्व की कुछ खास बात है जो रिश्तों के सम्बन्ध में स्त्री की विशिष्ट भूमिका की ओर हमारा ध्यान खींचती है। पति के अड़ियल स्वभाव और पारिवारिक जिम्मेदारियों के बीच सन्तुलन बनाने की कोशिश स्त्री जीवन का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। स्त्री ने अपने को कभी भी अपने तक सीमित नहीं रखा है।

---

[29] गरिमा श्रीवास्तव, जनसत्ता–दैनिक, रविवारीय, 20 जनवरी 2008, लेख 'गुमनामी के दौर में'।
[30] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 240

दोनों देवर की शादी, छोटी ननद की शादी प्रत्येक अवसर पर चन्द्रकिरण ने संयुक्त परिवार के अंग के रूप में कुशल गृहिणी का परिचय दिया। पति न भाइयों से खुश है न पिता के साथ उसके अच्छे सम्बन्ध। फिर भी पत्नी द्वारा पारिवारिक उत्तरदायित्वों को कुशलतापूर्वक निभाते जाना स्त्री जीवन का एक मार्मिक पक्ष है। पति की अनुगामिनी बन कर रहने वाली स्त्री पारिवारिक जिम्मेदारियों के संबंध में आगे बढ़कर वह पति का सहयोग प्राप्त करने की कोशिश करती है। जबकि समाज में यह अवधारणा बन चुकी है कि स्त्री, पुरुष को उसके परिवार से अलग कर देती है। पुरुष की गैर जिम्मेदारी का दोष स्त्री के सर मढ़ा जाता है। चन्द्रकिरण ने पति के अहं और घर परिवार की खींचतान को कुशल अभिनेत्री की तरह झेला है। वह जीवन की विकट परिस्थितियों में पति के साथ खड़ी रहती है और पारिवारिक उत्तरदायित्वों को कुशलतापूर्वक निभाती रहती है। पति की सिविल सर्विस से बर्खास्तगी से लेकर जीवन के हर मोड़ पर वह पति का सहयोग करती है। जितना वह कर सकती थी या एक स्त्री द्वारा जितना संभव हो सकता है चन्द्रकिरण ने किया। पति की व्यस्तता कहें या गैर जिम्मेदारी कि मां को इलाज के अभाव में अपना बच्चा भी खोना पड़ा है– ''मेरा बच्चा बिना इलाज के चला गया। लोग कहते हैं किरण (चन्द्रकिरण) की गोद में, सौरी से हाल का पैदा बच्चा दे दो, वह बच जाता है– और उसी गोद में, उसका अपना जाया, बिना इलाज के दम तोड़ गया। आँखों से आँसू और वक्ष से दूध की धार बह रही थी–निःशब्द।''[31]

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा का व्यक्तित्व स्त्री जीवन के उन पहलुओं की ओर संकेत कर रहा है जिनको आज तक नोटिस नहीं लिया गया है। हर बार उसे स्त्री का निजी प्रसंग कह कर बहस से दूर रखा जाता रहा है। घर–परिवार में स्त्री को किन समस्याओं से गुजरना पड़ता है। किस प्रकार उसे थोपी हुई जिम्मेदारियों को निभाना पड़ता है। पति के अवैध सम्बन्धों के सार्वजनिक होने का डर किस प्रकार पत्नी को सताता है। पत्नी को किस प्रकार पति के अवैध सम्बन्धों को न केवल स्वीकृति देनी पड़ती है अपितु उसमें सहयोग भी करना पड़ता है।

---

[31] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 324

अनुचित के प्रतिकार के स्थान पर उसका स्वीकार किस प्रकार स्त्री जीवन की नियति बन जाता है।

(iv) सृजन और प्रकाशन में विवशता का संघर्ष

समाज व्यवस्था के प्रत्येक स्तर पर स्त्री को संघर्ष के दौर से गुजरना पड़ा है। सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि प्रत्येक स्तर पर वह लिंग–भेद का शिकार रही है। स्त्री का जीवन जन्म से मृत्यु तक संघर्ष के दौर से गुजरता है। स्त्री संघर्ष की महत्ता इसलिए है कि वह केवल और केवल स्त्री का संघर्ष है जो उसे अकेले झेलना पड़ता है। धर्म के प्रति पवित्र समर्पण के बाद भी वह अपवित्र है। आर्थिक दृष्टि से सक्षम होकर भी वह अक्षम है। स्त्री घर के बाहर भी लिंग भेद से पीड़ित है। सामान्य स्त्री भी लिंग भेद को झेल रही है तो पढ़ी–लिखी विशिष्ट स्त्री भी लिंग भेद से त्रस्त है। कार्य क्षेत्र चाहे कैसा भी हो स्त्री अपने अधिकार से वंचित है।

स्त्रियों के आत्मकथ्य हाशिए की रचनाशीलता, उत्कट जिजीविषा और आत्मबल के सर्जनात्मक रूपान्तरण की ओर संकेत करते हैं। अस्तित्व की यह लड़ाई जिस नए सामाजिक परिवर्तन की भूमिका प्रस्तावित कर रही है– वह स्त्री और हाशिए के लोगों को अपनी बात को बेबाकी से कह देने का साहस और धैर्य भी दे रहा है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा का आत्मकथ्य, रचनाकार के रूप में पहचान बनाने की इच्छा मन में लिये और व्यवहारिक गृहस्थ जीवन के बीच रास्ता निकालने की कोशिश करती स्त्री की अभिव्यक्ति है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा का व्यक्तित्व सामान्य और विशिष्ट दोनों श्रेणी की स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करता है। घर में वह सामान्य स्त्री है तो घर से बाहर आर्थिक दृष्टि से सक्षम विशिष्ट स्त्री। सामान्य स्त्री तो विवश और लाचार है परन्तु विशिष्ट स्त्री की विवशता उससे भी अधिक वेदनापूर्ण और मार्मिक है। ''पिंजरे की मैना'' का आत्मकथ्य सृजन और प्रकाशन में स्त्री की विवशता और संघर्ष का एक जीवन्त उदाहरण है। रचनात्मक क्षेत्र में स्त्री लिंग भेद से मुक्त नहीं हो पाई है। वह न तो स्वतंत्र रूप से लिख सकती है, न ही अपना लिखा प्रकाशित करवा सकती है। एक स्त्री अपने सपनों

को मरते हुए देख रही है परन्तु वह विवश है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने हिन्दी के प्रारम्भिक कहानीकारों में अपनी विशिष्ट उपस्थिति बनाई। अपने समय के साहित्यिक आलोचकों द्वारा उनकी कहानियां काफी सराही गई। तेरह वर्ष की उम्र से लिखने वाली लेखिका को एक पहचान मिल रही थी। पति का कार्यक्षेत्र भी समान था। आरम्भ में पति का रवैया उदार रहा। पति कांतिचन्द्र सौनरेक्सा साहित्यिक क्षेत्र मे अपनी पहचान बनाने में सफल नहीं हो पाये। पति की असफलता पत्नी पर कैसे भारी पड़ती है इसी विडम्बना की भुक्तभोगी है चन्द्रकिरण सौनरेक्सा। पत्नी की कहानियां पत्र–पत्रिकाओं में छप रही हैं। सम्पादकों के प्रशंसा पत्र आ रहे हैं। भला इसे पति कैस सहन कर ले। पति सफल नहीं हो पाया तो पत्नी सफल कैसे हो सकती है? पत्नी की सफलता पर पति की प्रतिक्रिया ''तुमने भी कहानी भेजते समय पत्र में कुछ न कुछ तो लिखा ही होगा– जरूर ... उसके चूतड़ों में घी मला होगा।''[32]

साहित्यिक क्षेत्र में समान कार्यक्षेत्र के कारण समस्याओं की शिकार चन्द्रकिरण सौनरेक्सा अकेली नहीं है। चन्द्रकिरण की समस्या का कारण पति की साहित्यिक असफलता को ही माना जा सकता है। ऐसे भी उदाहरण हैं जहां पति साहित्य में नामचीन हस्ती है जिसकी अपनी विशिष्ट पहचान है फिर भी पत्नी लिंग भेद का शिकार है। बकौल मन्नू भंडारी ''सब लोग यही सोचते थे और मुझे भी यही लगता था कि एक ही रुचि ... एक ही पेशा, कितना सुगम रहेगा जीवन। मुझे अपने लिखने के लिए तो जैसे राजमार्ग मिल आएगा, लेकिन एक ही पेशे के दो लोगों का साथ जहां कई सुविधाएं जुटाता है, वहां दिक्कतों का अम्बार भी लगा देता है– कम से कम मेरा यही अनुभव है।''[33]

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा और मन्नू भंडारी के आत्मकथ्य इस बात की ओर संकेत करते हैं कि पुरुष ने स्त्री को कभी बराबरी का सम्मान नहीं दिया। पुरुष स्त्री की प्रतिभा को स्वीकार नहीं करता। दिखावे के तौर पर भले वह आधुनिक होने का दावा करे। वस्तुस्थिति में वह लिंगभेद का पक्षधर है। वह प्रत्येक क्षण स्त्री

---

[32] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 220
[33] मन्नू भंडारी, 'एक कहानी यह भी', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 48

को स्त्री होने का अहसास कराता रहता है। स्त्री के लिए कहीं पति की उपेक्षा रचनात्मक स्तर पर बाधा बनती है तो कहीं पति स्वयं बाधाओं की दीवार बनकर खड़ा हो जाता है। एक ही कार्य क्षेत्र के रहते सफल (राजेन्द्र यादव) और असफल (कांतिचन्द्र) के हाथों पत्नी के स्तर पर मन्नू भण्डारी और चन्द्रकिरण लिंग भेद का शिकार रही हैं। मल्लिका अमरशेख ने दलित रचनाकार नामदेव ढसाल से विवाह किया, बकौल मल्लिका "मैं तो यह मानती हूँ कि मर्द की न कोई जाति होती है न संस्कारों से उसका कोई वास्ता। नारी के पास वह होता है–यह दावा तो मैं नहीं करुँगी, पर भारतीय संस्कृति को मैं मृत पशु मानती हूँ। हर आदमी अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए उसकी खाल नोचकर उसे अपनी तरह से ओढ़ लेता है। लेकिन उस खाल के नीचे उसका जो असली रूप छुपा हुआ है, वह बेहद घिनौना और भोंडा है।"

स्त्रियों को लेखन के क्षेत्र में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। स्वतंत्र लेखन के लिए उनके पास समय नहीं है। उसका लिखना किसी अलग कमरे में बैठकर नहीं होता है। उसके लेखन में साहित्यिक बहसों की अनुभूति नहीं है। वह जो भी लिख रही है – दाल–सब्जी के पकने के बीच, घर–परिवार के काम–काज से निपटकर चन्द फुरसत के क्षणों में लिख रही है। उसकी अनुभूति का क्षेत्र सीमित है। यही कारण है कि स्त्री का रचनाक्षेत्र भी सीमित रहता है। परन्तु स्त्री जो लिख रही है उसमें उसकी अनुभूति की सच्चाई है। उसे लिखते समय कल्पना के गोते लगाने की जरूरत नहीं है। वह अपनी अभिरुचि जन्य आनंद के लिए लिख रही है। उसके मन में लिखते समय प्रतिक्रियाओं का भूत सवार नहीं होता है। वह किसी को खारिज करने के लिए नहीं, अपनी अनुभूति से पाठकों को परिचित कराने के लिए लिख रही है। स्त्री क्या लिख रही है उससे बढ़कर तो यह है कि वह किस स्थिति में लिख रही है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के पास लेखन के लिए समय कैसे निकल आया। चन्द्रकिरण बयां करती हैं "मेरे पास सरस्वती का ऐसा वरद्हस्त था कि मुझे लिखने के लिए न एकांत चाहिए था, न कोई विशेष वातावरण। चूल्हे–अंगीठी पर दाल चढ़ाकर वहीं बैठे–बैठे भी दो चार

पृष्ठ लिख लेती। दोबारा व्यवस्थित करने का समय न मिलता तो कहानी का पहला ड्राफ्ट ही पत्रों में भेज देती।''[34]

मानव स्वभाववश चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के आत्मकथ्य में आत्मप्रशंसा का भाव हो सकता है। यह भी हो सकता है कि वह अपनी साहित्यिक गुमनामी के कारणों के लिए अपनी क्षमता से अधिक परिस्थितियों को दोष दे रही हो। परन्तु इसमें दो राय नहीं हो सकती कि वह स्त्री होने विवशताओं की शिकार रही हैं। अच्छा लिखा गया या नहीं इसका फैसला लेखक स्वयं तो नहीं कर सकता है। लिखने के बाद बिना प्रकाशित हुए पड़ा साहित्य रद्दी का ढेर ही होता है। साहित्यिक लेखन के मापदण्ड भी बदलते रहते हैं। ऐसे में पचास के दशक की कहानियां आज प्रभावशाली नहीं रह जाती हैं। लेखक के प्रति राय तत्कालीन समय के आधार पर ही बनती है। पचास के दशक की कहानियों और उपन्यासों को आज प्रकाशित करके लेखक के प्रति उचित राय का निर्धारण संभव नहीं। साहित्य कालजयी होता है इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि कोई भी रचना अपने लेखन के 50 वर्ष बाद भी पाठकों पर उतना ही असर डालती है जितना लिखने के समय। कालजयी कृतियो के प्रति अवधारणा का विकास उसके काल विशेष से जरूर जुड़ा होता है। वह पहले अपने काल (समय) में प्रसिद्धि प्राप्त करती है उसके बाद कालजयी बनती है। पहली बार नव–प्रकाशित को पढ़ने वाला पाठक अपने समय के आधार पर ही निर्णय देता है। ऐसे में लेखक के साथ न्याय होने की संभावना बहुत ही कम रहती है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के साहित्य में आज के सन्दर्भ में ज्यादा कुछ विशिष्टता नजर नहीं आयेगी। हो सकता है पाठक को वह बकवास भी लगे। परन्तु अपने समय में प्रकाशित कहानियों को काफी प्रशंसा मिली थी। समय स्वीकृत कहानियों के आधार पर चन्द्रकिरण गुमनामी की हकदार नहीं है। उनके साहित्य का मूल्यांकन करते समय उनकी विवशताओं को भी जेहन में रखना होगा। वह एक ऐसी स्त्री लेखिका है जिसके साहित्य को प्रकाशित नहीं होने दिया गया। वह चाहकर भी अपनी कहानियां पत्र–पत्रिकाओं में नहीं भेज पा

---

[34] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 214

रही थी। पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित कहानियों पर पति का प्रतिक्रियाओं से साफ जाहिर होता है कि साहित्यिक सफलता से घर टूटने की नौबत आ गई थी। हर बार आयोजकों से उलझना चन्द्रकिरण के लिए एक समस्या बन गया था। धीरे–धीरे स्थिति यह हो गयी कि साहित्य के क्षेत्र में कांतिचन्द्र का नाम अपरिचित हो गया था। उनका परिचय चन्द्रकिरण के पति के रूप में रह गया था। कांतिचन्द्र को यह स्थिति असहनीय लगी। अब उन्होंने अपनी पत्नी को ही प्रतिद्वन्द्वी के रूप में देखना शुरू कर दिया। कभी प्रकाशक ठग लेने के बहाने से तो कभी सम्पादकों के साथ अवैध सम्बन्धों का लांछन लगा कर पत्नी की साहित्यिक प्रतिभा को दबाया गया। कांतिचन्द्र जैसे साहित्य में अपरिचित बने उन्होंने चन्द्रकिरण को भी उसी कगार पर ला खड़ा किया। बकौल चन्द्रकिरण ''मेरा एक ही क्षेत्र रहा पर प्रकाशन यथा समय नहीं होने पर, मैं भी वहीं खड़ी हूं, जहां ये हैं। इनका प्रकाशकों से तालमेल बैठा नहीं... वक्त बड़ा बेरहम होता है। रचनाओं पर इतनी धूल समय की पड़ गई कि वे 'ममी' बनने के कगार पर हैं।''[35]

86 वर्ष की आयु में आत्मकथा लिखने वाली लेखिका के आत्मकथ्य की सत्यता पर विश्वास किया जा सकता है। जीवन में किसी भी प्रकार की चाह नहीं रहने पर लिखा गया, सत्य के करीब होता है। 13 वर्ष की उम्र से लिखने वाली लेखिका की प्रतिभा पर सवाल नहीं उठाये जाने चाहिए। चन्द्रकिरण की आत्मकथा का एक–एक वाक्य स्त्री लेखिका की पीड़ा की दास्तान है। यह एक ऐसी स्त्री की दासतान है जिसके यश का हरण कर लिया गया। चन्द्रकिरण लिखती हैं ''कांतिजी (पति) यह भूल गये कि प्रकाशक पैसों से चाहे ठग ले, पर मेरे नाम के यश का हरण तो नहीं कर सकते थे। दंभ तो नहीं करती, परन्तु तथ्य अभिव्यक्ति तो कर सकती हूं– तेरह वर्ष की उम्र से आज तक जितना भी लेखन कार्य मैंने किया है, उसका पचास प्रतिशत भी अगर समग्र रूप से उपलब्ध होता, तो आज मैं भी राज्य सभा की मनोनीत सदस्य होती, अकादमी की अवैतनिक अध्यक्ष होती।''[36]

---

[35] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 391
[36] वही, पृ. 391

ऐसा नहीं है कि चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने अपने साहित्य को प्रकाशित करवाने की कोशिश नहीं की। हर बार पति द्वारा प्रकाशकों के साथ झगड़ा करके समझौते तुड़वाये गये। बचपन से साहित्य के क्षेत्र में अपना नाम कमाने की अभिलाषा लिए लिखने वाली लेखिका इतनी अनजान भी नहीं थी। प्रकाशक से बात होने का पता चलते ही प्रकाशक को पत्नी से अवैध सम्बन्धों के आधार पर बदनाम करने की धमकी देना और हर बार प्रकाशक का हाथ जोड़कर मना कर देना कि हम बदनाम नहीं होना चाहते। यह है एक स्त्री लेखिका की विवशता जो जीवन के हर मोर्चे पर पति के आगे हार जाती है। उसके आगे एक ही राह बची थी वस्तुस्थिति से समझौता करना। टूटते सपनों का दंश झेलती लेखिका स्वीकार करती है– ''पत्रिका में छप जाना ही मेरी कहानियों की नियति रही... वक्त से पहले और भाग्य से ज्यादा किसी को नहीं मिलता है। हमें कर्म करने का अधिकार है, हम नियति नहीं बदल सकते–मैं कर ही क्या सकती हूं।''[37]

एक साहित्यकार के लिए गुमनामी की पीड़ा क्या होती है, इसे चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के जीवन से समझा जा सकता है। चन्द्रकिरण की शिकायत भले ही आज एक स्त्री लेखिका के मन की भड़ांस लगे। परन्तु एक लेखिका के रूप में उसने जिस विवशता को बयान किया है उसका अपना महत्व है। एक स्त्री लेखिका के जीवन का यह भी एक पक्ष है जहां उसे अपने ही निर्णयों पर पछताना पड़ता है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने अपनी पीड़ा बयां करते हुए लिखा है– ''मैंने दूसरा निश्चय किया–कहानी लिखूंगी, पर इन्हीं को पकड़ा दूंगी। फिर 'ये' चाहे प्रकाशन के लिये भेजें–मेरा कोई सीधा सम्पर्क नहीं रहेगा। न सम्पादक के पत्र आयेंगे, न ये झगड़े होंगे। शायद यही आदर्श पतिव्रता पत्नी का निर्णय था। जिसकी कीमत मेरे पूरे साहित्यिक जीवन ने चुकाई। और लगभग गुमनामी के कगार पर अभिशप्त सरस्वती के वरदान सी– मैं खड़ी हूँ।''[38] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने साहित्य के क्षेत्र में अपनी स्थिति को बड़ी ईमानदारी के साथ स्वीकार किया है। उन्होंने स्वीकारा है कि साहित्यकार के रूप में अपनी पहचान बनाने की कोशिश

---

[37] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 401
[38] वही, पृ. 224

चाहे स्वयं की कमजोरियों से या पारिवारिक समस्याओं के कारण सही ढंग से फलीभूत नहीं हो पाई। साहित्य को प्रकाशित करवाने के लिए पति से बहुत बार निवेदन किया, हर बार निराशा ही हाथ लगी। स्वयं के प्रयास भी असफल हो गये। आज उनके चार उपन्यास, कई कहानी संग्रह, कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। ऑक्सफोर्ड जैसे विश्वविद्यालय में उनकी कहानियां हिन्दी पाठ्यक्रम में शामिल हैं। फिर भी सही मायने में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा हिन्दी साहित्य में एक अनजान नाम है। हिन्दी साहित्य का विद्यार्थी अनेकों लेखिकाओं को पढ़ रहा है। यह सच है कि समय का अन्तराल अच्छे साहित्य को भी अनुपयोगी साहित्य के ढेर में डाल देता है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के साथ कुछ–कुछ ऐसा ही हुआ है और ऐसा ही हो रहा है।

अध्याय–तृतीय

पिंजरे की मैनाः स्त्री–पीड़ा और विवशता का सच

(i) प्रेम और विश्वास

(ii) विलासिता और उन्मुक्तता

(iii) वर्जनाएं और विवशता

(iv) समझौतावादी दृष्टि की विवशता

पिंजरे की मैनाः स्त्री–पीड़ा और विवशता का सच

इतिहास, राजनीति और साहित्य में उन्हीं का उल्लेख होता है जिन्होंने संघर्ष किए हों और विजय पाई हो। पराजित समूहों की त्रासदी इतिहास के पन्नों पर महत्व नहीं पाती है। स्त्री जाति का इतिहास पराजय और दमन से सम्बद्ध है। सतत यातना और घुटी हुई चीखों का इतिहास है। इसलिए उनके लिखे और कहे जाने की ज़रूरत है। स्त्री साहित्य पुरुष–साहित्य की तुलना में बहुत कम लिखा गया। जो लिखा गया वह भी साहित्य के क्षेत्र में पूर्ण स्वीकृति नहीं पा सका। साहित्य का क्षेत्र स्त्रियों के लिए वर्जित रहा है। स्त्रियों को यही कहा या सुनाया गया कि उनके पास साहित्य के रूप में कहने के लिए कुछ नहीं है। जब कभी स्त्री ने अपनी बात कहने की कोशिश की तो कुंठित साहित्य का नाम देकर उसे सर्जन के दायरे से बाहर रखा गया। स्त्री–लेखन को प्रतिरोध का रूप देकर उसे हाशिए पर रखा गया। स्त्री के अनुभूति परक लेखन को मन की भड़ास कह कर खारिज़ करने की कोशिश की गई। एक तरफ यह कहा जाता है कि अनुभूति से रचा साहित्य ही सच्चा साहित्य होता है वहीं दूसरी तरफ स्त्री लेखन के सन्दर्भ में मानदण्ड बदल दिए जाते हैं। स्त्री अपनी अनुभूति को जितनी ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त करती है पुरुष उसे उतना ही दिखावटी कह कर खारिज कर देता है। स्त्री की पीड़ा उसे दिखावटी लगती है। उसे इसकी वास्तविकता पर सन्देह है। स्त्री का वही रूप उसे सच्चा लगता है जो वह देखना चाहता है। जो उसकी पूर्व निर्धारित अवधारणा से अलग होता है उसे वह अवास्तविक कह देता है। साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा 'आत्मकथा' स्त्री को अपनी बात कहने का पूरा अवसर देती है। 'आत्मकथा' के माध्यम से स्त्री अपनी बात सहजता से कह सकती है। 'आत्मकथा' के सन्दर्भ में ऐसे कोई मानदण्ड भी नहीं है कि कला के नाम पर स्त्री लेखन को खारिज कर दिया जाये। अनुभूति की सच्चाई आत्मकथा का आधार है और स्त्रियों के पास कहने को अपना इतना कुछ है कि उन्हें इधर–उधर से उठाने की आवश्यकता नहीं।

आत्मकथा लेखन से स्त्री जीवन की पीड़ा और विवशता को अभिव्यक्ति मिली है। स्त्री आत्मकथाओं में प्रतिरोध और आक्रोश की भी अभिव्यक्ति हुई है। इसलिए स्त्री द्वारा लिखित आत्मकथा लेखन अपनी अस्मिता और स्वाधीनता के दावों को समाज के सामने लाने का प्रयत्न भी है। स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथा लेखन से साहित्य में व्यक्तिवाद के स्थान पर सामाजिकता का विकास हुआ है। स्त्री समस्या पूरे स्त्री समाज की समस्या है। एक स्त्री का लेखन काफी हद तक स्त्री समुदाय की समस्याओं को सामने लाता है। यही कारण है कि स्त्री आत्मकथाओं में स्वायत्तता से अधिक प्रतिनिधिकता होती हैं। स्त्री की आत्मकथा पूरे समुदाय की आत्मकथा है। स्त्री चाहे किसी वर्ग या समुदाय की हो, समाज में उसे सामान्य तौर पर एक ही प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। स्त्री के प्रति पुरुष की मानसिकता में कोई परिवर्तन नहीं आया है। जैसे–जैसे समाज विकास की ओर अग्रसर होता है वैसे–वैसे स्त्रियों की स्वतंत्रता को सीमित करने के प्रयास भी तेज हो जाते हैं। इस स्थिति में स्त्री द्वारा लिखित आत्मकथा लेखन भारतीय स्त्री की जागरण कथा है। वह अपने अधिकारों के प्रति जाग्रत हो रही है। वह अपने शोषण और दमन का प्रतिरोध कर रही है।

स्त्री आत्मकथा के द्वारा अपनी बात कहकर जड़ संस्कारों को नकारने का संकेत दे रही है। स्त्री का आत्मकथ्य पीड़ा और विवशता के साथ मुक्ति के संघर्ष की शुरूआत भी है। हम यह तो दावा नहीं कर सकते कि स्त्रियां आत्मकथा के माध्यम से जो भी कह रही हैं सही कह रही हैं। परन्तु उनका कहना इसलिए महत्वपूर्ण हो जाता है कि वे अपने अधिकारों की माँग कर रही हैं। किसी के द्वारा अपने न्यायोचित अधिकार की मांग करना गलत कैसे हो सकता है? किसी एक पक्ष को दबाकर रखने से दूसरे पक्ष को मानसिक संतुष्टि तो मिल सकती है, पर समाज का विकास तो नहीं हो सकता। गहन साहस के साथ कटुतम सत्य को कह डालने की प्रवृत्ति को स्त्री चेतना के प्रतिफल के रूप में देखा जाना चाहिए। 'स्त्रियों' की अनुभूति को अभिव्यक्त करने में आत्मकथा आज सर्वाधिक अनुकूल माध्यम बन गया है। स्त्री आत्मकथाओं के माध्यम से उनकी पीड़ा और विवशता

समाज के सामने आ रही है। ''पिंजरे की मैना'' मे चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने स्त्री जीवन की जिन समस्याओं को आत्मकथ्य के माध्यम से सामने रखा है वह पूरे स्त्री समाज का चित्र प्रस्तुत करती है। पुरुष वर्चस्व वाले समाज में स्त्री कितनी असुरक्षित महसूस करती है इसकी पीड़ा एक स्त्री ही समझ सकती है। जन्म से लेकर मृत्यु तक स्त्री का जीवन पीड़ा और विवशता की कहानी बनकर रह जाता है। समाज के प्रत्येक स्तर पर स्त्री लिंग–भेद का शिकार है। उसे कभी न खत्म होने वाली परीक्षाओं के दौर से गुजरना पड़ता है।

स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री के जिस पीड़ित स्वरूप को सामने रखा गया है उस पर ज्यों का त्यों विश्वास नहीं किया जा सकता। फिर भी यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि स्त्री को पुरुष के समान अधिकार आज तक नहीं मिले हैं। स्त्री को पुरुष की मानसिकता के आगे झुकना पड़ा है। घर–परिवार के उत्तरदायित्व को निभाने में स्त्री पर पहले से अधिक भार पड़ा है। आर्थिक समस्याओं की मार वह पुरुष से अधिक झेल रही है। चन्द स्त्रियों की सफलताओं के द्वारा पूरे समाज की स्थिति को नहीं आंका जा सकता। मुख्यतः स्त्री आज भी स्वतंत्र निर्णय लेने की स्थिति में नहीं है। उसके हर फैसले में कहीं न कहीं पुरुष शामिल हो जाता है। आज भी स्त्री पुरुष के निर्देशन में कार्य करने को मजबूर है। स्त्री ने कमाना शुरू किया है परन्तु उपयोग की स्वतंत्रता उसके पास नहीं है। रुपये का हिसाब किताब पुरुष के हाथ में रहा है। स्त्री आर्थिक गतिविधियों में अधीनस्थ सहयोगी से आगे नहीं बढ़ पाई है। व्यापारिक संस्थानों में स्त्री के साथ कैसा व्यवहार होता है यह किसी से छिपा नहीं है। एस.टी.डी. बूथ से लेकर मॉल तक उसकी नियुक्ति योग्यता से अधिक ग्राहकों को आकर्षित करने वाले सौन्दर्य के आधार पर होती है। ऐसा नहीं है कि पुरुष की अधिकार सत्ता के विरुद्ध प्रतिरोध नहीं हुआ परन्तु स्त्री के प्रतिरोध की शक्ति निर्णय तक नहीं पहुंच सकी है। उसके सामने एक ही रास्ता नज़र आता है कि समझौते में ही बुद्धिमानी है। वह हर बार प्रतिरोध करके हार जाती है।

(i) प्रेम और विश्वास

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने अपने आत्मकथ्य के माध्यम से स्त्री की विवशता को बड़े सहज रूप से सामने रखा है। एक परम्परावादी लड़की के लिए प्रेम का क्या अर्थ हो सकता है? उसके लिए प्रेम करना मुक्त साहचर्य नहीं है। वह एक पवित्र बन्धन की शुरुआत है। प्रेम की परिणति शादी और शादी का अर्थ परस्पर विश्वास। प्रेम की पवित्रता में विश्वास करने वाली स्त्री को बदले में क्या मिला इसी दासतां की कहानी है– चन्द्रकिरण सौनरेक्सा का जीवन। प्रेम के नाम पर उसने बगावत नही की। घर–परिवार की सहमति से शादी की। पति के साथ जीवन के कठिन समय में भी एक सहयोगी की तरह खड़ी रही। घर की जिम्मेदारियों से लेकर आर्थिक समस्याओं तक पति से कोई शिकायत नही। उसमें मुक्ति की छटपटाहट नहीं है। वह अपने पारिवारिक उत्तरदायित्वों को निभाते हुए खुश है। परन्तु बदले में उसे क्या मिला–पति का विश्वासघात। पति का ऐसा रूप देखने को मिलता है पत्नी के सामने पति घर लाकर दूसरी लड़कियों के साथ रंगरेलियां मना रहा है। बकौल चन्द्रकिरण "उस कमरे का एक दरवाजा गैलरी में खुलता था, उससे मैं गैलरी में आ गई और भीतर से दरवाजा बंद हो गया। क्रोध, अपमान, आत्मग्लानि से मेरा तन–बदन जल रहा था। आँसू नही थे आँखों में। मैं किसी भी कमरे में जाती तो बात खुल जाती। गैलरी में अखबार रखे थे, उन्हों को विछाकर द्वारा से टेक लगाकर बैठ गई बीच–बीच में ऊंघ भी गयी होगी।"[1] एक स्त्री क सामने पति दूसरी स्त्री के साथ सोए और स्त्री मौन रहे। कोई प्रतिकार नहीं करे यह अस्वाभाविक बात है। स्त्री की चाहे कितनी भी विवशता रही हो परन्तु उसे स्त्रीत्व पर चोट कतई बर्दाश्त नहीं। पत्नी, पति पर दूसरी स्त्री का अधिकार कभी स्वीकार नहीं कर सकती है। उसके सामने सब घटित हो जाए और वह इज्जत के डर से मौन हो जाये इस बात पर सहज विश्वास नहीं हो सकता है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने जिस विवशता के कारण पति के अवैध संबंधों को लेकर प्रतिकार न करने की बात कही उसको लेकर भी सहज विश्वास नहीं किया

---

[1] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 303

जा सकता है। स्त्री चाहे कितनी भी कमजोर क्यों ना हो उसमें पति के अवैध सम्बंधों का विरोध करने की शक्ति अवश्य रहती है। प्रतिकार न करने वाली स्त्री स्वयं दोषी है। उसे पति के दूसरी स्त्रियों के साथ सम्बन्ध स्वीकार्य हैं तभी वह प्रतिकार नहीं करती। एक स्त्री का इस प्रकार से निरपेक्ष रहना स्त्री स्वभाव के अनुकूल तो नहीं कहा जा सकता। अगर स्त्री ऐसा करती है तो वह स्वयं ही पत्नी की गरिमा को त्याग कर 'रखैल' की स्थिति में आ जाती है। आर्थिक विवशता के कारण पत्नीत्व के साथ समझौता करना भारतीय नारी का चरित्र नहीं है। जिस विवशता की बात चन्द्रकिरण ने की है वह तो आम स्त्री की विवशता है परन्तु इससे पत्नी के अधिकार कम नहीं हो जाते। चन्द्रकिरण अपनी विवशता का जिक्र करती हैं– "मैंने बाबूजी को शांत करते हुए कहा– बाबूजी दोनों को बाहर करने में, कॉलोनी में शोर मचता। यहां भी सब हमारे शुभचिंतक थोड़े ही हैं। तब भी नौकरी पर संकट आता और 'इनकी' नौकरी ही हम सब का सहारा है।"[2] चन्द्रकिरण ने किन स्थितियों में ऐसे समझौते किये हम नहीं कह सकते। फिर भी स्त्री से उसका पत्नी का अधिकार छिना जाए और वह भविष्य की समस्याओं के भय से मौन रहे, तब तो वह भी पति के बराबर ही दोषी है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा एक आदर्श पत्नी होते हुए भी इस दोष से मुक्त नहीं हो सकती हैं। हर बार सफाई में यह कहना कि मैंने पति के उत्पीड़न को इसलिए सहन किया क्योंकि मैं एक आदर्श पत्नी हूं। यह तो नितान्त एक पक्षीय दृष्टिकोण है। यह तो स्वयं के द्वारा तय किये गये आदर्श हो सकते हैं। आदर्श पत्नी तब तक ही आदर्श पत्नी होती है जब तक कि पति उसके पत्नीत्व को चोट न पहुंचाए। शर्तों से रिश्ते अधिक समय तक जिन्दा नहीं रहते, यह बात कहने वाली चन्द्रकिरण स्वयं शर्तों पर रिश्ते बनाये रखना चाहती है। स्त्री अपनी विवशता के नाम पर सारा दोष पुरुष के सर मढ़ दे यह भी शोभा नहीं देता है। प्रेम और विश्वास का अर्थ यह नहीं है कि उसकी आंखों के सामने विश्वास को तोड़ा जाए। फिर भी उसका विश्वास अटल बना रहे। भावात्मक स्तर पर यह बात शोभा दे सकती है परन्तु व्यावहारिक जीवन में नहीं। पति के प्रेम प्रसंगों को लेकर जैसा चन्द्रकिरण

---

[2] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 303

सौनरेक्सा ने कहा कि वह हीनता ग्रन्थि का शिकार हो जाती हैं। यह एक सामान्य स्त्री की विशेषता है। स्त्रियां संवेदनशील अधिक होती है। बहुत सी स्त्रियों को पति के प्रेम–प्रसंगों के कारण हीनता–ग्रन्थि का शिकार होना भी पड़ता है, इससे उनकी पत्नी के रूप में पति के प्रेम–प्रसंगों का विरोध करने की क्षमता कम नहीं हो जाती है। स्त्री जौहर की ज्वाला में जल सकती है परन्तु विवशता के नाम पर पत्नी से 'रखैल' की स्थिति में नहीं रह सकती है।

स्त्री प्रेम और विश्वास के साथ रिश्तों को आगे बढ़ाना चाहती है। वह जिससे प्रेम करती है उस पर विश्वास भी करती है। वह पुरुष को अपनी पसंद मानती है। अपनी पसंद कभी गलत न हो जाए इसी के लिए विश्वास का सहारा लेती है। पुरुष एक समानान्तर दुनिया रचकर चलता है। दूसरी स्त्रियों के साथ उसके सम्बन्ध बेवफाई के नहीं व्यापक अनुभूति का हिस्सा हैं। पुरुष स्त्री को बराबरी का दर्जा देने के लिए गर्जन–तर्जन कर सकता है, वह पत्नी को नर्स से बढ़कर नहीं मानता है। मन्नू भण्डारी द्वारा राजेन्द्र यादव के बारे में कही गई बात पुरुष मानसिकता पर लागू होती है ''पर अपने को विशिष्ट मानने वाले राजेन्द्र की धारणा पत्नी की भूमिका के बारे में विशिष्ट ही नहीं, सचमुच चौंकाने वाली थी। इनके हिसाब से पत्नी की नर्स की तरह होना चाहिए जो सिर्फ पति की सेवा करे, बदले में उससे अपेक्षा कुछ न करे।''[3]

जिस प्रेम और विश्वास के नाम पर दाम्पत्य जीवन के सफल होने की बात की जाती है वह स्त्रियों की विवशता का रूप ले लेता है। प्रेम करना और प्रेमी पर विश्वास करना स्त्री की अनचाही मजबूरी बन जाता है। प्रेम और विश्वास के नाम पर जितनी भी प्रतिबद्धताएं हो सकती हैं वे सब स्त्रियों पर लागू कर दी जाती हैं। सदैव प्रेम और विश्वास के नाम पर स्त्री का उत्पीड़न बढ़ा है। देह के उत्पीड़न के साथ मानसिक उत्पीड़न की सजा भी स्त्री को भोगनी पड़ती है। पुरुष को यह चिंता नहीं कि रिश्तों की असफलता पर समाज क्या कहेगा? परन्तु स्त्री को रिश्तों की असफलता पर समाज की प्रतिक्रिया का डर उसे विवश और लाचार बना देता

[3] मन्नू भण्डारी, 'एक कहानी यह भी', राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ. 96

है। प्रेमिका, पत्नी, मां, बहिन के रूप में जो भी उत्तरदायित्व उसके हिस्से आते हैं, उनको निभाने में उसकी स्वैच्छा का सिद्धान्त गायब हो जाता है। स्त्री पर सामाजिक प्रतिबद्धता जोर शोर से लाद दी जाती है। दूसरी तरफ पुरुष प्रेमी, पति, पिता, भाई आदि के उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में पूर्ण स्वैच्छिक बना रहता है। न ही वह प्रेमी रूप में और न ही पति के रूप में प्रतिबद्धता से बंधा है। पुरुष जब चाहे इन रिश्तों को नया मोड़ दे सकता है। समाज से स्वीकृति भी उसे तत्काल मिल जाती है। स्त्री न तो रिश्ते बनाने के लिए स्वतंत्र है और न ही रिश्ते बनने पर निभाने के लिए। सामाजिक व्यवस्था में स्त्री की सुरक्षा कहीं नज़र नहीं आती। असुरक्षा का भाव ही उसे समझौता करने को विवश करता है। कभी स्त्री आर्थिक निर्भरता के कारण विवश है तो कभी सामाजिक और सांस्कृतिक संस्कार के नाम पर मजबूर है। स्त्री के भाग्यवाद में विश्वास करने का एक कारण उसकी असुरक्षा का भाव भी है। स्त्री की विवशता पर चन्द्रकिरण का आत्मकथ्य स्त्री जीवन का सच है। चन्द्रकिरण के अनुसार दोष चाहे पुरुष का हो, सामाजिक प्रतिक्रिया स्त्री के लिए अधिक खतरनाक होती है।

प्रेम और विश्वास में स्त्री ने हर बार धोखा खाया है। प्रेम के भीतर जो प्रतिबद्धता स्त्री से मांगी जाती है वही पुरुष से क्यों नहीं? परकीय प्रसंगों की छूट पुरुष जिन कारणों से लेता है वही छूट स्त्री के लिए क्यों नहीं? जहां प्रतिबद्धता खण्डित होती है वहां एक ही प्रकार के चाल–चलन के लिए स्त्री और पुरुष के साथ अलग–अलग प्रकार के सामाजिक सलूक क्यों? स्त्री के साथ भेदभाव का एक कारण उसकी आर्थिक निर्भरता हो सकती है, परन्तु आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर स्त्रियां भी इस भेदभाव का शिकार रही हैं। आत्मनिर्भर होकर भी स्त्रियां मानसिक रूप से मुक्त नहीं हो पाई हैं। पुरुष के अकेलेपन पर कोई सवाल नहीं होता परन्तु स्त्री का अकेला रहना सवालों का अम्बार लगा देता है। शादी के बाद स्त्री का पिता के घर से सिर्फ भावात्मक रिश्ता रह जाता है। आश्रय की चिन्ता स्त्री की विवशता का एक पक्ष है। यह सत्य है कि पति है तो स्त्री के लिए ससुराल और मायका दोनों हैं। पति नहीं तो दोनों जगह के द्वार उसके लिए बंद

हो जाते हैं। बकौल चन्द्रकिरण ''उस विषम अविश्वासमयी रात्रि में पूरी रात जागती रही– समाधान पाने के लिए। कोई उपाय ऐसा हो जिससे मेरे ससुराल तथा मायके वालों को मेरे कारण परेशानी न उठानी पड़े। उनके जीवन के लिए मैं अपनी उपस्थिति से अशांति का कारण न बनूं। पर मैं हूं तो मनुष्य ही रहने खाने सांस लेने और कुछ सोचने के लिए वह कहीं तो आश्रय लेता है।''[4] स्त्री को पुरुष के साथ इस प्रकार प्रतिबद्ध कर दिया जाता है कि वह चाह कर भी मुक्त नहीं हो पाती है। उसकी चिन्ता यह भी है कि वह जिस संकट से बचने के लिए मुक्त होना चाहती है। मुक्ति के बाद इससे बड़े संकट की आशंका बनी रहती है। पुरुष स्त्री की इस मानसिक दशा को भली–भांति समझता है। वह इसका भरपूर फायदा उठाता है। 'पिंजरे की मैना' में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने प्रेम और विश्वास के सन्दर्भ में पुरुष की गैर उत्तरदायी प्रवृत्ति को सामने रखा है। पुरुष इस बात से आश्वस्त रहता है कि उसकी बेवफाई से पत्नी के साथ उसके रिश्तों के टूटने का खतरा नहीं है। पुरुष बार–बार यह सिद्ध करने में लगा रहता है कि यह सब तो उसके व्यक्तित्व का प्रभाव है। जिससे स्त्रियां उससे प्रभावित होती हैं। वह अन्य स्त्री के साथ अपने समबन्ध को पत्नी के प्रति बेवफाई नहीं मानता। पुरुष पत्नी के प्रति अपने उत्तरदायित्व पर कभी बात नहीं करता। बार–बार पत्नी को आदर्श के पाठ पढ़ाये जाते हैं। स्त्री–पुरुष की बराबरी का ढोंग करने वाले अनेक पुरुष पत्नी के सामने 'पतिपरमेश्वर' बन कर अपने पैर छुआते देखे जाते हैं। इतने पर भी प्रतिक्रिया यह कि यह सब तो पत्नी की खुशी के लिए कर रहे हैं।

पुरुष अपने लिए समानान्तर जिन्दगी का पैटर्न चुनता है और पत्नी के लिए पतिव्रता वाला पुराना पैटर्न बनाये रखना चाहता है। वह पत्नी के अलावा दूसरी स्त्री से सम्बन्ध रख सकता है तो पत्नी को दूसरे पुरुष से सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतंत्रता क्यों नहीं देता? जब पति अपनी महिला मित्र की लिस्ट पत्नी को गर्व के साथ बताता है तब वह पत्नी के सम्बन्ध में इतना सनकी क्यों हो जाता है? पत्नी से सफाई किस अधिकार के साथ मांगता है? पत्नी विश्वास

---

[4] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 223

दिलाते–दिलाते हार जाती है परन्तु पति विश्वास तोड़ते–तोड़ते क्यों नहीं हारता? पत्नी को छोड़कर प्रेमिका के स्तर पर भी देखें तो पुरुष अपना वर्चस्व बनाये रखने की हर संभव कोशिश करता है। स्त्री की विवशता को समझने के लिए प्रभा खेतान का जीवन एक विशिष्ट उदाहरण हो सकता है। प्रभा खेतान ने उम्र में काफी बड़े पांच बच्चों के बाप डॉक्टर से प्रेम किया। डॉक्टर के साथ शादी न करके भी प्रेमिका व पत्नी दोनों धर्मों को निभाती रहीं। वह आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर ही नहीं अधिक सक्षम महिला थीं, परन्तु प्रभा खेतान की विवशता भी एक पत्नी की विवशता से कम नहीं है। उनके साथ भी वह सब घटित हुआ जो एक पत्नी के साथ होता है। पैसे कमाने से निर्णय लेने की स्वतंत्रता आती है। अपने इसी कथन को वह जीवन भर डॉक्टर के साथ सम्बन्धों में लागू नहीं कर पाई। बकौल प्रभा खेतान "इसी बीच कलकत्ता से मेरे मित्र का फोन आया। उन्हें अमेरिका से कोई दवा मंगवानी थी। मुझे पता था कि डॉक्टर साहब ने अन्दर वाले कमरे से फोन उठा रखा है। यह कोई नई बात नहीं। मुझ पर नियंत्रण रखने का यह उनका अपना तरीका है। मेरे नाम की हर चिट्ठी पहले डॉक्टर साहब की मेज पर जाती थी। तीस साल के साथ के बावजूद मैं कभी उनका विश्वास नहीं जीत पाई। मेरे सम्पर्क में आने वाले हर पुरुष के प्रति वे सन्देह ग्रस्त रहते और रिश्तों की कैफियत देते–देते मैं थक जाती।"[5]

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के पति कांतिचन्द्र सौनरेक्सा के बारे में जैसा चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने लिखा है उस दृष्टि से देखा जाए तो पुरुष मानसिकता का एक नया चेहरा सामने आता है। पत्नी के सामने घर पर दूसरी औरतों के साथ रंग रेलियां मनाना। महिलाओं के साथ अपने सम्बन्धों को खुलकर पत्नी को बताना। स्त्रियों के साथ सम्बन्धों को लेकर उदारमना व्यक्ति पत्नी को लेकर सर्वाधिक सनकी है। वृद्धावस्था मे भी पत्नी के अपने परिचितों के साथ सम्बन्ध को भी अवैध सम्बन्ध कहता है। पत्नी के घर से बाहर जाने पर किसी बहाने उसकी तहकीकात करता है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के प्रथम कहानी संग्रह के प्रकाशित

---

[5] प्रभा खेतान, 'अन्या से अनन्या', राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, पृ. 164

होने पर कांतिचन्द्र सौनरेक्सा की प्रतिक्रिया "कहानी संग्रह का छपना विष्णु प्रभाकर के साथ चन्द्रकिरण के अवैध सम्बन्धों को प्रमाणित करता है।" समाज व्यवस्था में एक पत्नी को पति के बारे में मौन रहना पड़ता है, जबकि पति को पत्नी के बारे में किसी भी प्रकार का आरोप लगाने की छूट है। पत्नी मौन रहकर परिवार को टूटने से बचाने की कोशिश करती है। पति को पत्नी की विवशता में अपने पौरुष सत्ता का वर्चस्व नजर आता है। पति को पारिवारिक तनाव की चिन्ता नहीं है क्योंकि समझौता स्त्रियों को करना पड़ता है। यह शाश्वत सत्य है कि झुकना स्त्री की नियति बन गया है।

"पिंजरे की मैना" में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने स्त्री की पीड़ा को उसके प्रतिरोध न कर पाने की विवशता में देखा है। छोटे–छोटे मुद्दों पर वह पति के आदेशों का प्रतिरोध नहीं कर पाती है। इसे भले ही वह आदर्श पत्नी की विवशत कहे परन्तु कुछ अन्य कारण भी हैं जो स्त्री को समझौते के लिए मजबूर कर देते हैं। स्त्री को यह भय सदैव रहता है कि वह पुरुष की ज्यादतियों का विरोध करके भी अपने लिए कुछ नया नहीं हासिल कर पाएगी। गलत का विरोध करने पर भी वह तमाशा बन कर रह जाती है। पुरुष को गलती महसूस हो या न हो स्त्री को हीनता ग्रन्थि का शिकार होना पड़ता है। जीवन में ऐसे बहुत से अवसर आते हैं जब स्त्री प्रतिरोध का स्वर उठाती है परन्तु कुछ अपवादों को छोड़कर उसकी परिणति विवशता भरे समझौते से आगे कुछ नहीं हो पाती। बकौल चन्द्रकिरण "मैंने क्या करना था या क्या कहना था– हमेशा की तरह इनकी बात को सुन लिय और चुप रह गयी। उम्र के इस पड़ाव पर न मैं खुद तमाशा बनना चाहती थी और न इनका बनवाना चाहती थी।"[6]

स्त्री जीवन का सच यह है कि जीवन के हर मोर्चे पर स्त्री का विश्वास चूर–चूर हो जाता है। विश्वास के अभाव में स्त्री की प्रतिरोध की शक्ति भी कुंद हो जाती है। जीवन में छोटे–छोटे फैसले भी वह अपने स्वयं के दम पर नहीं ले पाती है। ऐसा नहीं है कि स्त्री की निर्णय शक्ति कमजोर है। स्त्री पुरुष के

---

[6] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 297

विश्वास को खोने का नहीं, विश्वास पाने की ही संभव कोशिश करती है। स्त्री जिस परिवेश में बड़ी होती है उस परिवेश के पुरुष वर्चस्व के संस्कार जीवन भर उसकी निर्णय शक्ति को प्रभावित करते हैं। प्रेम और विश्वास के नाम पर स्त्री को दैहिक और मानसिक दोनों स्तर पर टूटना पड़ा है। वह नैतिकता के मापदण्डों से अपने जीवन को संचालित करती है। उसके लिए वही नैतिक है, मान्य है जो पुरुष इच्छा के अनुकूल हो। उसकी अपनी कोई अवधारणा नहीं है। पुरुष की प्रभुसत्ता वाले समाज ने जैसे मापदण्ड तय कर दिये उसी के अनुसरण से वह नैतिकता को परिभाषित करती है। किसी भी मान्यता के बारे मे सोचने और स्त्री पर उसके प्रभाव के सम्बन्ध में वह पुरुष मानसिकता का सहारा लेती है। स्वतंत्र दृष्टि का अभाव स्त्री की विवशता का एक कारण है। स्त्री अपनी सफाई में चाहे कुछ भी कहे परन्तु हर बार यह देखा गया है कि स्त्री समस्याओं का सामना करने के स्थान पर उससे बचने का प्रयास अधिक करती है। कभी बच्चों को लेकर वह चिन्तित रहती है, कभी घर–परिवार की इज्जत उसे समझौते के लिए विवश कर देती है। वह अपने स्वतंत्र अस्तित्व को लेकर आवश्वस्त नहीं है। अपने अस्तित्व को पुरुष के साथ जोड़कर देखना उसकी कमजोरी बन जाती है। यह सत्य है कि पुरुष से अलगाव स्त्री को हीनताजन्य तनाव का शिकार बना देता है। पुरुष के प्रभुत्व से अधिक उसे पुरुष से अलगाव की चिन्ता सताती है। असुरक्षा का भय इस कदर उसके मन में समाया है कि उसका हर फैसला इससे प्रभावित हो जाता है। स्त्री की इसी समस्या पर प्रभा खेतान का मानना है कि ''एक संरचना के रूप में जहां पुरुष में स्वायत्तता का बोध है, वहीं स्त्री में यह बोध शुरू से नहीं है। कारण स्त्री की सामाजिक संरचना पुरुष ने ही तो की है। पुरुष ने ही उसे परिभाषित किया है।''[7]

प्रेम और विश्वास के मापदण्ड स्त्री के लिए निर्धारित कर दिये गये हैं। पुरुष न तो कभी इससे बंधा है और न ही इसकी पवित्रता पर उसने विश्वास किया है। जिससे वह कभी नहीं बंधा उसी के सहारे पुरुष ने स्त्री को विवश कर

[7] हंस (राजेन्द्र यादव) मार्च 2001, प्रभा खेतना का लेख– 'हंस' की नारीवादी उड़ान, पृ. 10

दिया है। पुरुष के लिए स्त्री की देह आकर्षण का केन्द्र हो सकती है पर स्त्री का प्रेम नहीं। प्रेम और विश्वास के नाम पर स्त्री विवशता से आगे बढ़कर ही अपने लिए नया समाज निर्मित कर सकती है, जानते हुए भी अपने को बेड़ियों में जकड़े रखने के लिए अभिशप्त है। लेकिन स्त्री की समस्या यही है वह अपने स्वत्व के लिए संघर्ष की मुहिम छेड़ने से कतराती है। यदि उसे कुछ लेना है तो लड़ना होगा। अगर वह संघर्ष से कतराती रहेगी तो उसके लिए वही आदिम गुफाओं का स्थान है। जहां न खिड़की है, न दरवाजे, न रोशनी और न हवा।

(ii) विलासिता और उन्मुक्तता

'पिंजरे की मैना' में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने खुद को पुरुष की विलासिता की शिकार स्त्री के रूप में सामने रखा है। चन्द्रकिरण ने विलासी पुरुष द्वारा स्त्रीत्व पर की गई चोटों को भोगा है। चन्द्रकिरण के ही नहीं बल्कि स्त्री के जीवन का यही सच है। स्त्री जो कुछ भी कर रही है। चाहे वह मन से किया गया हो या बेमन से वह सिर्फ और सिर्फ पुरुष की विलासिता की तुष्टि का प्रयास भर है। स्त्री भले ही इसे प्रेम का नाम दे या समर्पण का। हर बार उसके पास कहने को यही शेष बचता है कि मैं क्या कर सकती हूं? मैं तो सिर्फ उनकी इच्छा का पालन कर रही हूं। अपने अस्तित्व को खो कर मौन की पीड़ा को झेलना स्त्री जीवन की शाश्वत कहानी है। बकौल चन्द्रकिरण ''एक मात्र मौन ही मेरे दुःख का साथी था। आज मैं, और किसी को नहीं, बस स्वयं को इतनी आज्ञाकारी पत्नी होने पर दोषी ठहाराती हूं। और यह कोई गर्व की बात नहीं दुःख की बात है। पश्चाताप के सिवा मेरे हाथ कुछ नहीं लगा।''[8]

पुरुष की विलासिता के विरुद्ध स्त्री की हर आवाज अनसुनी रह जाती है। स्थिति यहां तक पहुंच जाती है कि पति के प्रेम प्रसंग भी पत्नी के लिए अपने व्यक्तित्व की कमी और हीनता ग्रन्थि के कारण बन जाते हैं। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के शब्दों में ''कांति जी के आये दिन के प्रेम–प्रसंगों के कारण, मैं सोचने लगी थी कि मेरे व्यक्तित्व में गोरे रंग और प्रभावशाली हाव भाव की कमी है, जो 'ये' सुन्दर

[8] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 317

स्त्री की ओर आकर्षित हो जाते हैं''[9] पुरुष मानसिकता का खौफ स्त्री के मन–मस्तिष्क में ऐसे समाया है कि पुरुष से अपनी भिन्नता को वह अपनी हीनता मानती है। व्यक्तित्व की भिन्नता को हीनता से जोड़कर स्त्री पुरुष के आगे विवश और लाचार हो जाती है। पुरुष के सामंती चरित्र को जिन्दा रखने में स्त्रियां भी दोषी हैं। स्त्री पहले अपनी दया से पुरुष की हिंसा को पकाती है और फिर पुरुष की हिंसा से अपनी दयनीय स्थिति को मजबूत करती है। पुरुष मानसिकता ने स्त्री को यौनिकता के केन्द्र से बाहर निकलने नहीं दिया। स्त्री को सदैव एक वस्तु की तरह देखा गया। उसकी भावनाओं और संवेदनाओं को समझने की कोशिश कभी नहीं की गई। स्त्री एक सामाजिक प्राणी से सामाजिक वस्तु बन गई। स्त्रियों के सम्बन्ध में समाजवाद यही है कि स्त्री देह पर सामाजिक अधिकार मान लिया गया। आज स्त्री की आवाज़ यौनिकता के विरुद्ध है, आज स्त्री मनुष्य के रूप में अपनी बराबरी का अधिकार मांग रही है। जिससे सदैव उसे वंचित रखा गया। स्त्री का लिखना भी एक प्रतिरोध है। स्त्री अपनी अनुभूति के आधार पर जो भी लिख रही है वह व्यवस्था में दरारे पैदा करने वाला है। स्त्री का लिखना सच को सामने लाना है। पुरुष कभी भी ऐसा नहीं चाहेगा कि उसकी पोल खोली जाए।

पुरुष की विलासिता की शिकार स्त्री आज उन्मुक्त जीवन की तलाश में है। समलैंगिक सम्बन्धों के समर्थन में भारी संख्या में स्त्रियों का आना, पुरुष वर्चस्व से मुक्ति का प्रयास है। उन्मुक्तता के नाम पर स्त्री द्वारा उठाये गए कदम गलत हो सकते हैं, फिर भी इसके पीछे पुरुष उत्पीड़न की भूमिका से नकारा नहीं जा सकता। हो सकता है कि आज स्त्री का उन्मुक्त जीवन पुरुष उन्मुक्तता से भी खतरनाक बन जाए। स्त्रियों की अनुभूति इस बात की गवाह है कि सब कुछ करने के बाद भी चाहे वह देह के स्तर पर किया गया हो या मन के स्तर पर। स्त्री के पास बचा है खाली–खोखला रोगग्रस्त शरीर, निष्क्रिय जीवन और खण्डित आत्मविश्वास। दाम्पत्येतर सम्बन्ध पुरुष की सीनाजोरी है। यह पत्नी की अस्मिता को खण्डित करता पुरुष का अहं है जो गलत को भी सही में तब्दील कर देता

---

[9] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 316

है। मन्नू भंडारी के अनुसार ''सहजीवन के नाम पर पत्नी को समानांतर जिन्दगी का आधुनिक पैटर्न थमाता हिपोक्रेट ताकि उसकी ऐयाशियों और विश्वासघातों का सिलसिला बदस्तूर चलता रहे।''[10] पुरुष की विलासिता आधुनिक जीवन का पैटर्न बन सकती है तो स्त्री की उन्मुक्ति पर इतना बवाल क्यों? पुरुष स्त्री पर अपने अधिकार का दावा किस नैतिक नियम के आधार पर कर रहा है? नैतिक नियमों की धज्जियां उड़ाने वाला पुरुष स्त्री के सम्बन्ध में इतना नैतिक उपदेशक क्यों बन जाता है?

नारी को नियन्त्रण में रखने के लिए उसे क्या करना चाहिए? इस बात को ध्यान में रखते हुए पुरुष सेक्स की स्वाधीनता पर सबसे अधिक नियंत्रण रखता है। बकौल तसलीमा नसरीन – ''नारी स्वाधीनता का मतलब है सेक्स स्वाधीनता। सेक्स स्वाधीनता के बिना नारी कभी भी सच्चे अर्थों में स्वाधीनता अर्जित नही कर सकती। कभी कर भी नहीं पाई है। आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर नारी भी सेक्स गुलामी से मुक्त नहीं हो पाई है, इसीलिए वह स्वाधीन भी नहीं है। सेक्स स्वाधीनता का मतलब यह नहीं है कि पुरुष को पाते ही उसके साथ सो जाये। पुरुष के साथ न सोना भी सेक्स – स्वाधीनता है।''[11]

जहां तक विलासिता का सवाल है पुरुष ने इसे मनचाहे ढंग से परिभाषित किया है। जो औरत काम वासना से तड़प उठती है, वह बुरी औरत होती है। पुरुष अगर काम वासना से व्यग्र हो तो वह वीर्यवान है, शौर्यवान है। स्त्री को यही घुट्टी पिलाई जाती है कि औरत में काम वासना नहीं होनी चाहिए। अगर हो तो व्यक्त नहीं करनी चाहिए। पुरुष जानता है कि नारी की देह को जगने नहीं दिया जाए। अगर जाग भी जाए तो वह उसे नींद में सुलाये रखने में ही अपना मंगल समझता है। स्त्री और पुरुष के बीच रिश्ता बराबरी पर आधारित नहीं बन पाता है। पुरुष स्त्री को करुणा की नज़र से देखता है और स्त्री पुरुष को श्रद्धा की नज़र से। पुरुष की करुणा इसलिए है क्योंकि उसे पता है कि स्त्री असहाय है। स्त्री की विवशता इस कदर है कि पुरुष के व्यभिचार का दोष उसे जीवन भर

---

[10] मन्नू भंडारी, 'एक कहानी यह भी', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 57

[11] तसलीमा नसरीन, 'औरत का कोई देश नहीं', (अनुवाद सुशील गुप्ता), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,, पृ. 116

भोगना पड़ता है। बलात्कारी पुरुष समाज का हिस्सा हो सकता है, परन्तु बलात्कार की शिकार स्त्री को सिर झुकाये जीना पड़ता है। दुःसह रातें काटनी पड़ती हैं। वह समाज से काट दी जाती है जबकि उसका कोई दोष नहीं होता है। व्यभिचार पुरुष करता है और व्यभिचारी बन कर जीने की पीड़ा स्त्री को भोगनी पड़ती है। समाज में स्त्री के लिए बंधन ही बंधन है और पुरुष के लिए उन्मुक्तता ही उन्मुक्तता।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने पति की विलासी प्रवृत्ति और अपनी विवशता को जिस अन्दाज में कहा है उसकी अपनी सीमा है। पुरुष की विलासिता के विरुद्ध अपनी असफलता को आदर्श पत्नी की विवशता कह देना अधिक तर्कसंगत नहीं हो सकता है। स्त्री की विवशता को आदर्श पत्नी की विवशता नहीं कहा जा सकता है। स्त्री पुरुष की विलासिता का शिकार होती है और प्रतिरोध में विफल भी। तसलीमा नसरीन के शब्दों में कहें तो – ''एक पत्नी पति के व्यभिचार को इसलिए सहन कर लेती है क्योंकि पति से मुक्त होने पर कोई दूसरा पुरुष उसके साथ व्यभिचार नहीं करेगा। इसकी गारंटी उसके पास नहीं है। हर जगह बार–बार उत्पीड़ित होने बचने के लिए वह यह सब झेलती रहती है।''[12]

चन्द्रकिरण का व्यक्तित्व जिस परिवेश में विकसित हुआ उसका प्रभाव उसे विद्रोही नहीं बनने देता है। बचपन में परिवार की इज्जत के नाम पर बंधन में रहना। शादी के पूर्व एक लड़की के रूप में परिवार में अपने को असहज महसूस करना। भाई–भामी द्वारा शादी को समस्या समाधान की तरह देखना। यह स्थितियां सिद्ध कर देती है कि एक स्त्री के पास पति के अत्याचार का प्रतिरोध करने के लिए आधार नहीं रहता है। स्थितियों से समझौते के सिवाय उसके पास कोई विकल्प नहीं रहता है। चन्द्रकिरण अपनी नौकरी और परिवार के बीच सन्तुलन बनाकर चलने की कोशिश करती है। आत्मनिर्भर होने का अर्थ वह पुरुष से मुक्ति नहीं मानतीं। चन्द्रकिण में मुक्ति की छटपटाहट नहीं है। वह अपने परिवार के बीच खुश हैं। उन्हें अलग संसार की तलाश नहीं है। पति की

---

[12] तसलीमा नसरीन, 'औरत का कोई देश नहीं', (अनुवाद सुशील गुप्ता), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,, पृ. 106

कमजोरियों से वह वाकिफ़ है परन्तु इसे रिश्तों को खत्म करने का आधार नहीं बनाती है। पति चाहे कैसा भी हो वह उसका अपना है। वह रिश्तों के प्रति वफादार हैं पर उनका पति गैरवफादार है यही उनकी पीड़ा है। पति ने पत्नी से विमुख होकर अन्य औरत के प्रति अपने आकर्षण को मर्द के आधुनिक होने की शर्त बना रखी है। पत्नी चाह कर भी इस आधुनिक पुरुष को चुनौती नहीं दे पा रही है। वह स्वाधीन नहीं है। सेक्स की जो स्वाधीनता पुरुष के पास है वह स्त्री के पास नहीं है। पुरुष जानता है कि आज स्त्री जिस उन्मुक्तता की बात कर रही है वह पुरुष मानसिकता की उन्मुक्तता है। स्त्रियों को इस बात को समझना होगा। तसलीमा नसरीन ने इस समस्या पर विचार करते हुए लिखा है कि– ''भारत की अधिकांश औरतें स्वाधीनता का अर्थ नहीं जानती हैं। उन लोगों के लिए सिगरेट पीना, छोटी–छोटी पोशाकें पहनकर तन्त्र–मन्त्र में नाचना और पराए मर्दों के साथ सोना या सैर करना ही भारी स्वाधीनता है; लेकिन स्वाधीनता का अर्थ यह नहीं है। ऐसा तो बिल्कुल भी नहीं है। यह समझने की क्षमता बहुत कम स्त्रियों में है। यह सब तो घोर पुरुष तन्त्र का हिस्सा है। दारु–सिगरेट न पीकर, छोटी–छोटी पोशाकें न पहनकर, तन्त्र–मन्त्र में न नाचकर और किसी मर्द के साथ बिना सोए ही चरम नारी स्वाधीनता उपभोग की जा सकती है।''[13]

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने पुरुष मानसिकता के सम्बन्ध में जो सवाल उठाये हैं उन्हें स्त्री का एक पक्षीय विचार कह कर टाला नहीं जा सकता है। पुरुष अब स्त्रियों के साथ अपने सम्बन्धों को व्यापक जीवन का हिस्सा कह सकता है तब स्त्री के अन्य पुरुष के साथ साधारण सम्बन्ध को भी वह अवैध सम्बन्ध का नाम क्यों देता है? पुरुष स्त्रियों के साथ सम्बन्धों में अपने आधुनिक होने का दावा करता है। फिर वह स्त्री को आदिम युग में ही क्यों रखना चाहता है? स्वयं आधुनिक होने का नारा लगाता है और स्त्री की आधुनिकता को भटकाव कहकर खारिज कर देता है। विलासिता और उन्मुक्तता पुरुष जीवन के हिस्से हो सकते हैं। स्त्री का विलासिनी होना उसे स्वीकार नहीं। पुरुष की विलासिता पत्नी को

---

[13] तसलीमा नसरीन, 'औरत का कोई देश नहीं', (अनुवाद सुशील गुप्ता), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,, पृ. 120

बिना तलाक दिए भी चल सकती है। पत्नी घर–परिवार की जिम्मेदारियां उठाने में सक्षम हो जाए ताकि पुरुष अपनी विलासिता के साधन आसानी से जुटा सके। यही वर्तमान समय की पुरुष आधुनिकता है। पुरुष की मनमानी के आगे स्त्री के सारे प्रयास बेअसर हो जाते हैं। बकौल मन्नू भंण्डारी "एक स्वच्छंद और मनमाने ढंग से जीवन जीने की इनकी (राजेन्द्र यादव) जिद्द। जिसमें सारे प्रयत्नों के बावजूद मैं जरा सा भी परिवर्तन नहीं ला सकी थी।"[14]

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने विलासिता और उन्मुक्तता के सन्दर्भ में स्त्री की पीड़ा और विवशता को बड़े सटीक ढंग से सामने रखा है। दैनंदिन की घटनाओं में पुरुष अपने वर्चस्व को जताने की हर संभव कोशिश करता है। स्त्री की पीड़ा का कोई मूल्य नहीं है। स्त्री का अपना दुःख महत्वपूर्ण नहीं है। उसके लिए महत्वपूर्ण है पति के लिए अपने आकर्षण को बनाये रखना। उसे सिखाया भी यही जाता है कि पत्नी के लिए पति की विलासिता को तुष्ट करना ही परम धर्म है। स्त्री विवशता का कोई एक रूप नहीं है। खुशी के पल उसके जीवन में आते कहां है? शोक प्रकट करने की स्वतंत्रता नहीं है। स्त्री का सजना–संवरना भी उसकी मजबूरी बन जाता है। बकौल चन्द्रकिरण – "कांति जी (पति) का कोई भरोसा नहीं, तेरे कोल बाल रहते कुछ न कुछ होता रहा, सफेद बाल देखकर तो न जाने क्या होगा।"[15] स्त्री स्वयं ही अपने को पुरुष विलासिता की वस्तु मान कर चलती है। वह जो कुछ भी कर रही है। स्त्री की इच्छा नहीं पुरुष इच्छा के लिए कर रही है। स्त्री को पुरुष विलासिता के केन्द्र में ही अपना अस्तित्व नजर आता है। शरीर के एक–एक अंग को वह माप–तौल रही है पुरुष की पसंद के लिए। उसे पत्नी के रूप में अपना कोई अस्तित्व और अधिकार नहीं दिखाई पड़ता है। पति के चलते फिरते रोमांस पत्नी के लिए बेवफाई नहीं रह जाते हैं। एक पत्नी के रूप में स्त्री को अधिकार जताने के लिए अवसर नहीं है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने पुरुष विलासिता के आगे अपनी जिस विवशता और लाचारी की बात की है। वह आम भारतीय स्त्री की समस्या हो सकती है। वह जो शिकायत पति से कर रही

---

[14] मन्नू भण्डारी, 'एक कहानी यह भी', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 188
[15] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 326

है, सामान्य भारतीय नारी की शिकायत हो सकती है। यहां एक सवाल उठता है कि प्रत्येक स्त्री पत्नी के रूप में अपनी विवशता का रोना ही क्यों रो रही है? जबकि वह जानती है इस व्यर्थ के विलाप और प्रलाप से कुछ नहीं होने वाला है। वह अमानवीय परम्परा का विरोध क्यों नहीं कर रही है। एक सामान्य स्त्री जो पुरुष पर निर्भर है उसकी विवशता को तो समझा जा सकता है परन्तु आर्थिक दृष्टि से सक्षम स्त्री भी अपनी विवशता का रोना रोएगी तो परिवर्तन कहां से होगा? पितृसत्ता के दोष समझकर या भोग कर भी वह इसके पक्ष में क्यों खड़ी हो जाती है? स्त्री आज भी अपनी विवशता की गलत व्याख्या कर रही है। विवशता स्त्री होने से नहीं, स्त्री की आँसू भरी नियति को स्वीकार करने से है। पुरुष की ज्यादतियों के आगे अपनी विवशता का राग आलापने से स्त्री समाज का भला नहीं होने वाला है। पुरुष के अवैध सम्बन्धों में पत्नी स्वयं सहयोगी बन रही है। वह स्त्री की विवशता से अधिक उसके व्यक्तित्व की कमजोरी है। स्त्री होने के नाम पर अपनी कमजोरियों के लिए सहानुभूति हासिल करने की कोशिश कभी न्यायोचित नहीं कही जा सकती है। 'पिंजरे की मैना' लिखते समय चन्द्रकिरण भी इस कमजोरी से मुक्त नहीं हो सकी हैं। पति से असहमति हो सकती है परन्तु असहमति को स्त्री की विवशता तो नहीं कहा जा सकता है। स्वयं निर्णन न ले पाने की कमजोरी का पति पर दोष मंढ़ देना सही नहीं कहा जा सकता है। आत्मकथा के कुछ कमजोर पक्ष हैं जैसे पति के दाम्पत्येतर सम्बन्धों में सहयोगी बनने की अपनी विवशता की बात कहना। भाभी की मृत्यु पर भाई साहब से मिलने नहीं जा पाने के लिए अपनी मजबूरी का दोष पति पर मढ़ देना। कहीं–कहीं चन्द्रकिरण द्वारा विवशता की बात करना स्त्री स्वभाव के अनुकूल नहीं लगता है। पति के गलत सम्बन्धों पर प्रतिरोध न करके उसके पक्ष में समर्थन देना– "हिन्दू समाज में पुरुष दस–बीस जितने चाहे विवाह कर सकता है। कह देना मुझे लड़का चाहिए था, और मेरी बीबी के लड़कियां ही होती हैं। मैं लड़के के लिए शादी कर रहा हूं।"[16] पुरुष की विलासिता का प्रतिरोध नहीं कर पाना स्त्री की विवशता हो सकती है परन्तु विलासिता में सहयोगी बन जाना या उसका समर्थन

[16] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 274

करने की विवशता तो कत्तई नहीं हो सकती। पत्नी के रूप में स्त्री के अधिकार सीमित हैं। वह पुरुष की तरह उन्मुक्त जीवन नहीं जी सकती है; फिर भी पत्नी के रूप में स्त्री को कुछ अधिकार मिले होते हैं। स्त्री उसका कितना प्रयोग करती है यह उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। पत्नी के रूप में अधिकार खोने की समस्या पति से अधिक स्त्री की अपनी समस्या है।

(iii) वर्जनाएं और विवशता

समाज में जब तक एक पक्ष का वर्चस्व रहेगा, दूसरे पक्ष को वर्जना और विवशता का शिकार होना पड़ेगा। पुरुष वर्चस्व वाले समाज में स्त्रियों के साथ यही हो रहा है। समाज व्यवस्था के नाम पर स्त्री को अपने अधिकार मांगने से वर्जित किया जाता है। पुरुष सामाजिक विधान की व्याख्या अपनी मनमर्जी से करता है। स्त्री के लिए उसी को स्वीकार करना पड़ता है। समाज में किसी भी स्तर पर स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। स्त्री के अवदान को नकारने की एक विशिष्ट संस्कृति बन गई है। पुरुष के लिए जो कार्य मुक्त क्षेत्र के दायरे में आते हैं। स्त्री के लिए वही क्षेत्र सर्वाधिक वर्जित हैं। स्त्री अगर साहस करके वर्जित क्षेत्र में प्रवेश करती है तो पुरुष सत्ता में खलबली मच जाती है। कभी डरा–धमकाकर तो कभी नैतिक उपदेश देकर स्त्री को वर्जनाओं को स्वीकारने के लिए विवश किया जाता है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने अपनी आत्मकथा में स्त्री जीवन की वर्जनाओं पर एक नयी बहस को जन्म दिया है। चन्द्रकिरण का मानना है स्त्रियों की विवशता का कारण न केवल पुरुष है अपितु स्त्री भी उसका एक मुख्य सहायक कारण है। स्त्रियां भी पुरुष तन्त्र की धारक और वाहक होती है। तसलीमा नसरीन के शब्दों में कहें तो ''कभी–कभी यह भी लगता है कि पुरुष को अगर औरत की सहायता नहीं मिली होती, इतना सहयोग न मिला होता, सिर्फ पुरुषों की साजिश और षड्यन्त्र सिर्फ पुरुषों की बुद्धि और शक्ति पर पुरुषतन्त्र नहीं टिक पाता।''[17]

[17] तसलीमा नसरीन, 'औरत का कोई देश नहीं', अनुवाद सुशील गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,, पृ. 204

स्त्रियों पर प्रतिबन्ध लगाए रखना पुरुष सत्ता का एक पक्ष है। पुरुष अपने अधिकारों में कटौती नहीं चाहता। स्त्री पर नियंत्रण रखने को भी वह अपने अधिकार की तरह उपयोग करता है। स्त्री वर्जनाओं को वह अपने अधिकार में वृद्धि की तरह देखता है। यह पुरुष वर्चस्व का सामान्य चरित्र है। समस्या तो यहां है कि स्त्री भी पुरुष वर्चस्व को स्वीकार कर रही है। स्त्री पुरुष वर्चस्व का प्रतिरोध नहीं कर पा रही है। जीवन के अन्य क्षेत्रों में स्त्रियों की सफलता दर बढ़ी है। परन्तु आज भी स्त्रीजनित वर्जनाएं और विवशताएं स्त्रियों के विकास में सबसे बड़ी बाधा हैं। आज भी स्त्री इनका अतिक्रमण करने में सक्षम नहीं हो पाई है।

'पिंजरे की मैना' में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने स्त्री वर्जनाओं के सन्दर्भ में पुरुष मानसिकता के साथ–साथ स्त्री मानसिकता को भी सामने रखा है। घर का आर्थिक भार उठाने वाली स्त्री अन्दर आते ही विवश और लाचार हो जाती है। घर के बाहर वह अपने अस्तित्व को जता सकती है परन्तु घर के अन्दर पति ही सर्वेसर्वा है। चन्द्रकिरण ने इस सच की ओर ध्यान खींचा है कि पुरुष मानसिकता के प्रतिराधे की तुलना में स्त्री के इससे प्रभावित होने की दर अधिक रही है। पुरुष वर्चस्व का विरोध न कर पाना स्त्री की विवशता हो सकती है। परन्तु मालिकाना अधिकार पाते ही एक स्त्री द्वारा पुरुष की तरह व्यवहार करना चिन्ता का विषय है। बकौल चन्द्रकिरण ''बड़ी भाभी ने कई साड़ियां खरीदी अपने लिये और मेरे लिए उन्नावी रंग की, 45 रुपये की एक बढ़िया बनारसी साड़ी जरूर खरीदी गई थी। शेष बड़ी भाभी ने अपने लिए साड़ियां खरीदी, किसी ने उन्हें टोका नहीं। पर जब मेरी मां की बड़ी नथ, दामाद को देने वाली भारी अंगूठी और गिन्नियां जेवर बक्स से निकाल ली तो जीजी को बहुत बुरा लगा। पर घर की मालकिन भाभी थी– वह कुछ कह भी नहीं पाई।''[18] सामान्यतः इसे स्त्री स्वभाव की ईर्ष्या भी कहा जा सकता है। इससे स्त्री का दूसरा पक्ष भी सामने आता है कि स्त्री में प्रतिरोध करने की शक्ति का अभाव रहता है। न वह पुरुष वर्चस्व का प्रतिरोध कर पाती है और न ही स्त्री की ज्यादतियों का। बहुधा घरेलू हिंसा की शिकार स्त्री अपने उत्पीड़न की मुक्तिपरकता खोजने लगती है या फिर पीड़ादायक स्थिति में रहना स्वीकार कर लेती है। वर्तमान स्त्री विमर्शों के साथ एक जटिल समस्या है। स्त्रियों

[18] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 166

को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है उससे स्त्री की व्यक्तिकता अभिव्यक्त नहीं हो पाती है। सम्पूर्ण स्त्री समाज पीड़ित है, शोषित है। यह शब्द एक नारे की तरह प्रस्तुत किया जा रहा है। परन्तु पीड़ा के व्यक्तिगत कारणों को जाने बिना प्रतिरोध तो नहीं हो सकता है। स्त्री विमर्श, स्त्रियों के लिए सहानुभूति तो जुटा सकता है पर अधिकार नहीं। स्त्रियों को सहानुभूति की नहीं अधिकार की आवश्यकता है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के व्यक्तित्व के कुछ पहलुओं को आम स्त्री के व्यक्तित्व के साथ जोड़कर देखा जा सकता है। इस संसार में स्त्री को दबाने का सबसे बड़ा हथियार जो अक्सर पुरुष द्वारा प्रयुक्त किया जाता है, वह है स्त्री पर चरित्रहीनता का आरोप जड़ देना। तसलीमा नसरीन के शब्दों में कहें तो ''स्त्री पर आरोप लगाना बेहद आसान होता है और यह संस्कृति काफी लोकप्रिय भी है। स्त्री आरोप का प्रतिवाद नहीं कर सकती है।''[19] स्त्री प्रतिवाद क्यों नहीं कर पाती है इसके पीछे चाहे कितने भी कारण गिनाये जाएँ। असलियत को आज की स्त्री स्वीकार नहीं कर पा रही है। यह कटु सत्य है कि स्त्री समस्या का सामना करने के स्थान पर हर बार उससे बचने का प्रयास करती है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा इसी प्रतिरोध न करने की संस्कृति का अंग हैं। जिसकी कीमत उन्होंने चुकाई है। चन्द्रकिरण जीवन भर समस्या के समाधान के स्थान पर उसके स्वीकार करने में ही अपनी बुद्धिमानी समझती रही। प्रतिरोध के लिए तर्क न जुटाकर स्वीकार के लिए तर्क जुटाती रही। और अधिक स्पष्ट कहें तो हर बार चन्द्रकिरण अपनी कमजोरी छिपाने के लिए आदर्श पतिव्रता पत्नी को सामने ले आती हैं। व्यवहारिक जीवन की समस्याओं के सन्दर्भ में उनके द्वारा आदर्शवाद को विवशता की तरह सामने लाया गया है। वह पश्चाताप कर रही हैं तो इसलिए नहीं कि उन्होंने अनुचित का विरोध नहीं किया। उनका पश्चाताप है आदर्श पत्नी होने का। पूरी आत्मकथा में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने अपनी समस्याओं के लिए आदर्श पत्नी वाले जुमले को ही प्रयुक्त किया है। आत्मकथा का सबसे कमजोर पक्ष यही है। जहां आदर्श पत्नी की गलत व्याख्या की गई है। चन्द्रकिरण सिद्ध करना चाह रही हैं कि उनकी विवशता स्त्रीजन्य नहीं है। उनकी विवशता आदर्श पत्नीजन्य हैं। चन्द्रकिरण स्त्री वर्जनाओं को लेकर पुरुष सत्ता का विरोध नहीं कर रही हैं।

---

[19] तसलीमा नसरीन, 'औरत का कोई देश नहीं', अनुवाद सुशील गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,, पृ. 180

चन्द्रकिरण का विरोध स्त्री के आदर्श पत्नी होने की तरफ जा रहा है। चन्द्रकिरण अपनी साहित्यिक गुमनामी का कारण आदर्श पत्नी होना मानती है। इसी प्रकार भाभी की मृत्यु पर भाई से मिलने नहीं जा पाने के लिए भी आदर्श पत्नी की विवशता की बात करती हैं। पति के अन्य स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्धों का विरोध न करने में भी वह आदर्श पत्नी होने की विवशता को गिनाती हैं। इससे भी बढ़कर पति के दाम्पत्येत्तर सम्बन्धों में सहयेाग करने के लिए भी वह आदर्श पत्नी वाली विवशता की बात करती हैं।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने स्त्री वर्जनाओं को परिवेश के सन्दर्भ में सामने रखा है। एक स्त्री जो जन्म से लेकर मृत्यु तक संस्कारवान होने की कोशिश करती है। जो अपनी संस्कारिता को पुरुष मानसिकता से देखती है। जिसके पास संस्कारिता के सम्बन्ध में स्वतंत्र दृष्टि न होकर पुरुष द्वारा की गई व्याख्या ही एक मात्र आधार है। ऐसी स्त्री वर्जनाओं से मुक्ति की प्रेरणा कहां से लेगी। बचपन से जो पुरुष के अधिकार क्षेत्र में रहकर जीवन जीना सीख रही है ऐसी स्त्री द्वारा प्रतिरोध करना सरल नहीं है। पुरुष ने सत्तात्मक व्यवस्था में खुद सर्वशक्तिमान, सार्वभौम, हमलावर की भूमिका अपनाकर देह की 'शुद्धता' और 'पवित्रता' को बचाने का भार स्वयं स्त्री पर ही डाल दिया है। देह की शुद्धता और पवित्रता का अर्थ सिर्फ और सिर्फ स्त्री देह से लिया जाता है, क्योंकि सवाल उठाने वाला पुरुष होता है। स्त्री के लिए सवाल करना वर्जित है। बचपन से स्त्री की वर्जनाओं और विवशताओं की शुरुआत कैसे होती है? चन्द्रकिरण ने इसके लिए समाज के उस दृष्टिकोण को उत्तरदायी माना है जिसमें स्त्री को उपयोग की दृष्टि से नहीं, उपभोग की दृष्टि से देखा जाता है। बकौल चन्द्रकिरण "उन दिनों पांचवी–छठी तक पहुंचते–पहुंचते लड़कियां पंद्रह–सोलह की हो जाती थी। अधिकतर तो चौथी के बाद ही ससुराल वाली बन जाती थी। वही लोग आगे पढ़ाते थे जो लड़कियों की शिक्षा के बारे में उदार होते थें या लड़का न मिलने के कारण वक्त का सदुपयोग कराने के लिए लड़कियों को स्कूल भेजना पड़ता था।"[20]

---

[20] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 76

स्त्री की वर्जनाओं और विवशताओं के लिए उसका पुरुष पर आश्रित होना ही मुख्य कारण है। स्त्री, पुरुष पर आर्थिक दृष्टि से ही आश्रित नहीं है। बल्कि मानसिक दृष्टि से भी वह पुरुष के आश्रय से मुक्त नहीं हो पाई है। अन्यथा कोई कारण नहीं कि आर्थिक दृष्टि से सक्षम स्त्री भी पुरुष के आगे विवश और लाचार बनी रहे। अपने ऊपर लादी गई वर्जनाएं और विवशताएं सहज ही किसी को स्वीकार्य नहीं होती है। स्त्री के लिए यह समस्या संस्कार के साथ–साथ व्यक्तित्व की कमजोरी से भी जुड़ी है। संघर्ष को टालने के स्थान पर संघर्ष करने की आदत स्त्री को डालनी पड़ेगी।

(iv) समझौतावादी दृष्टि की विवशता

पुरुष प्रधान समाज में स्त्री को अपने अधिकार सत्ता को लेकर लिंगभेद का शिकार होना पड़ता है। समाज में स्त्री की एक ऐसी छवि गढ़ दी गई है जिससे मुक्त होना स्त्री के लिए सरल नहीं। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा जीवन भर स्त्री की परम्परावादी छवि को बनाये रखने की कोशिश करती रहीं। आधुनिक युग में रहकर भी, आर्थिक दृष्टि से सक्षम होकर भी चन्द्रकिरण अपनी अधिकार सत्ता को लेकर पुरी तरह परम्परावादी स्त्री की सोच से उबर नहीं पाई हैं। पुरुष चाहे कैसा भी हो स्त्री के लिए उसके अधीन रहने की संस्कृति चन्द्रकिरण के व्यक्तित्व पर भी लागू होती है। वह पति की हर अपेक्षा पर खरी उतरने की कोशिश करती हैं। उनको पति से कोई अपेक्षा नहीं है। घर के उत्तरदायित्व वह अकेली उठाने के लिए तैयार हैं परन्तु पति के आगे अभी भी पूर्णतः विवश और लाचार हैं। पति के गैरजिम्मेदार व्यक्तित्व की पूर्ति वह स्वयं को जिम्मेदारियों मं लगाकर करने का प्रयत्न करती हैं। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की समझौतावादी दृष्टि स्त्री विवशता से अधिक स्त्री की परम्परावादी छवि से संचालित है। बकौल चन्द्रकिरण "जिस तरह मायके की ऊंच–नीच को मर्यादाबद्ध रखना कन्या का धर्म है, उसी तरह बहू के रूप में ससुराल के लिए भी चारों ओर सन्तुलन बनाये रखना उसी कन्या का पवित्र कर्म है।"[21] चन्द्रकिरण की पति के आगे विवशता और लाचारी समझौतावादी दृष्टि की उपज है। वह अपने प्रतिरोध को जीवन भर दबाती रहीं ताकि उनकी

---

[21] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 268

संस्कारी स्त्री वाली छवि बनी रहे। आत्मकथा में चन्द्रकिरण ने जितने भी प्रसंग उठाये हैं उनमें सबसे पहले उन्होंने अपने आदर्श पत्नी वाले रूप को सामने रखा है। आत्मकथा लिखते समय शायद उनकी सबसे बड़ी कोशिश इस छवि को बनाये रखने की है। वह पाठक की पूरी सहानुभूति इस आदर्श पत्नी वाले रूप के सहारे हासिल करना चाहती हैं। कबाइली हमले के समय कश्मीर जाकर जनता का हौंसला बढ़ाने वाली चन्द्रकिरण अपने वैयक्तिक जीवन में पति के आगे असहाय बन कर रही जाती है।

चन्द्रकिरण ने अपनी समझौतावादी विवशता को आदर्श पत्नी की विवशता कहा है। आज भी वह गैर बराबरी के रिश्ते को बनाये रखने की समर्थक हैं। चन्द्रकिरण चुप रहने को रिश्ते बचाने की एक शर्त की तरह देखती हैं। चन्द्रकिरण को इस बात की खुशी है कि जीवन भर उत्पीड़न झेलकर भी वह पति के साथ अपने रिश्ते को बचाने में सफल रहीं। ''ऐसे ही अवसरों के समझौतों ने हमारे जैसे लोगों को समझदार कम और कमजोर ज्यादा बना दिया है। आज की पीढ़ी इन्हीं मौकों का दामन पकड़ कर, दूसरे का सच उसी के मुंह पर मारकर स्वयं को विजयी सिद्ध करने का आनंद लेना ज्यादा पसंद करती है– बजाए रिश्तों को बचाये रखने के लिए, चुप रहने के।[22]

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने अपने साहित्यिक जीवन को लेकर जिस स्त्री जनित विवशता का सामना किया। आज पति से शिकायत का सबसे बड़ा कारण भी यही है। साहित्यकार के लिए गुमनामी की पीड़ा को झेलना सरल नहीं है। पति के विरुद्ध चन्द्रकिरण की आवाज़ का कारण यही पीड़ा है। चन्द्रकिरण के जीवन की सारी वेदना पर गुमनामी की वेदना भारी है। पति के खिलाफ़ लिखने का साहस किया है तो इसी साहित्यिक गुमनामी की पीड़ा के कारण। 'पिंजरे की मैना' गुमनामी के दौर में जी रही स्त्री का पुरुष सत्ता के खिलाफ सबसे बड़ा प्रतिरोध है। 'पिंजरे की मैना' प्रतिरोध है उस आदर्श पत्नी का जिसने पुरुष दम्भ के दंश को झेला है।

---

[22] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 249

अध्याय–चतुर्थ

'पिंजरे की मैना' और समकालीन स्त्री आत्मकथाएं: एक तुलनात्मक अध्ययन

(i) 'अन्या से अनन्या' और 'पिंजरे की मैना'

(ii) 'एक कहानी यह भी' और 'पिंजरे की मैना'

(iii) 'गुड़िया भीतर गुड़िया' और 'पिंजरे की मैना'

'पिंजरे की मैना' और समकालीन स्त्री आत्मकथाएं: एक तुलनात्मक अध्ययन

आत्मकथा मनुष्य की कथा है। मनुष्य की कथा उसके जीवन जीने की कथा है और यह कथा ऐसी कला सें निर्मित होती है जिसके सूत्र उसके जीवन के आयास और अनायास तत्वों में घुले–मिले होते हैं। आत्मकथाकार सार्थक जीवन जीने का औचित्य अपनी सफलता से ही सिद्ध नहीं करता है, वह अपनी असफलता से भी अपने जीवन के औचित्य को सिद्ध करता है। आत्मकथाकार अपने जीवन सूत्रों की तलाश 'आत्म' के माध्यम से ही नहीं, 'अन्य' के माध्यम से भी करता है। आत्मकथा के लिए जितना 'आत्म' का महत्व है उतना ही 'अन्य' का भी। ये बातें सिद्ध करती है कि आत्मकथा का अपना वैशिष्ट्य होता है। प्रत्येक आत्मकथा में आत्मकथाकार की जीवन दृष्टि अभिव्यक्त होती है। आत्मकथाकार के जीवन अनुभव हमारे सामने आते हैं। आत्मकथाकार जैसा भोग रहा है या जैसा वह सोच रहा है वही आत्मकथा में लिखता है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना दृष्टिकोण होता है, वह किसी दूसरे से मेल खा भी सकता है और नहीं भी। जीवन जीने का कोई एक तरीका नहीं होता है। आत्मकथाकार जो लिख रहा है वह उसके अपने जीवन का सच है। इसका मूल्यांकन किसी दूसरे के दृष्टिकोण से नहीं किया जा सकता है। व्यक्ति जिस परिवेश और संस्कृति की उपज होता है, आत्मकथा उसी की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए किसी आत्मकथा का मूल्यांकन तुलना के द्वारा करना आत्मकथा की विशिष्टता को समाप्त करना है। स्त्री आत्मकथाओं के सन्दर्भ में यही कहा जाता रहा है कि पूरे स्त्री–समाज की समस्याएँ एक जैसी हैं। इसी सोच के कारण स्त्री आत्मकथाओं में अभिव्यक्त जीवन को एक–दूसरे के बरक्स रखकर देखने की कोशिश होती रही है। पुरुष वर्चस्व के विरुद्ध स्त्री का प्रतिरोध स्त्री आत्मकथाओं की सामान्य विशेषता कही जा सकती है। स्त्री आत्मकथाओं में संवेदना और समस्या के स्तर पर समानता जरूर है परन्तु यह समानता आत्मकथाकार की विशिष्टता के बाद आती है। स्त्री आत्मकथाओं को इसी समानता और विशिष्टता के बीच समन्वित दृष्टि अपनाकर समझने की आवश्यकता

है। एक स्त्री आत्मकथा को सम्पूर्ण स्त्री समाज की अभिव्यक्ति समझना आत्मकथा के वैशिष्ट्य को कम करना है। स्त्री आत्मकथाओं में बाहरी तौर पर समानता जरूर दिखती है। आत्मकथाओं में उठाई गई समस्याएँ भी एक जैसी जान पड़ती हैं परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि स्त्री के पास आत्मकथा में लिखने के लिए अपना विशिष्ट कुछ नहीं है। प्रत्येक स्त्री आत्मकथा में आत्मकथाकार का जीवन सत्य अभिव्यक्ति होता है जो उसका अपना होता है। उसमें दूसरे के जीवन की नहीं अपने जीवन की अभिव्यक्ति होती है। आत्मकथा में अभिव्यक्त जीवन को सामूहिक जीवन की अभिव्यक्ति कहना आत्मकथाकार के साथ न्याय नहीं कहा जा सकता है। आत्मकथा लेखिका जो बताना चाह रही है वह उसका अपना अनुभव होता है, वह उसकी अपनी प्रतिक्रिया होती है। आत्मकथा लेखिका की यही इच्छा रहती है कि उसकी आत्मकथा को व्यक्तिगत दृष्टि से ही समझा जाये। आत्मकथा में समाज, संस्कृति और परिवेश का इतिहास होता है परन्तु सर्वप्रथम आत्मकथा व्यक्तित्व की अभिव्यक्त होती है। वैयक्तिक स्तर पर अनुभव की विभिन्नता से आत्मकथा में सरसता और रोचकता आती है। अनुभूति की भिन्नता से ही पाठक के लिए आत्मकथा की उपयोगिता सिद्ध होती है।

आत्मकथा के सन्दर्भ में तुलनात्मक अध्ययन का उद्देश्य एक–दूसरे के महत्व को कम या ज्यादा दिखाना नहीं हो सकता है। आत्मकथा के वैशिष्ट्य को उद्घाटित करना ही तुलनात्मक अध्ययन का उद्देश्य होना चाहिए। तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा आत्मकथाओं का मूल्यांकन नहीं, आत्मकथा की संस्कृति का मूल्यांकन होता है। स्त्री आत्मकथाओं की तुलना का उद्देश्य स्त्री संघर्ष का सामान्यीकरण करना नहीं, स्त्री संघर्ष के बदलते आयाम को सामने लाना है। अपनी व्यक्तिगत सीमाओं और विशिष्टताओं के साथ प्रत्येक स्त्री आत्मकथा को प्रतिरोध के बदलते आयाम की तरह देखना होगा। तुलनात्मक अध्ययन के लिए स्त्री की मुक्ति की छटपटाहट का भी उतना ही महत्व है जितना स्त्री के समर्पण का। स्त्री आत्मकथाओं की तुलना किसी एक बिन्दु पर संभव नहीं है। स्त्री आत्मकथाओं में स्त्रियों के व्यक्तित्व के कमजोर पक्ष भी सामने आते हैं तो उनके

व्यक्तित्व के सबल पक्ष भी। प्रत्येक स्त्री आत्मकथा में उसका अपना परिवेश उद्घाटित होता है। परिवेश की पृष्ठभूमि में ही आत्मकथा के सच को समझा जा सकता है। आत्मकथा का महत्व परिवेश के सन्दर्भ में ही समझा जाना चाहिए। तुलनात्मक अध्ययन में स्त्री समस्याओं के सम्बन्ध में निर्णय नहीं देना होता है। तुलनात्मक अध्ययन में स्त्री समस्या के विविध स्वरूप को सामने लाना होता है। तुलनात्मक अध्ययन में किसी एक आत्मकथा को आदर्श मानने जैसी स्थिति नहीं होनी चाहिए। 'पिंजरे की मैना' (चन्द्रकिरण सौनरेक्सा), 'अन्या से अनन्या' (प्रभा खेतान), 'एक कहानी यह भी' (मन्नू भंडारी), 'कस्तूरी कुण्डल बसै', 'गुड़िया भीतर गुड़िया' (मैत्रेयी पुष्पा), जैसी आत्मकथाओं में पुरुष वर्चस्व के विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर भी है तो स्त्री की विवशता भी। कहीं स्त्री प्रतिरोध का स्वर अधिक तीव्र और खुला है तो कहीं मंद और गुप्त। अपनी विशिष्टताओं के साथ ये आत्मकथाएँ स्त्री समस्याओं को सामने लाती हैं। स्त्री की पीड़ा और विवशता के कारणों पर अपना पक्ष रखती हैं। स्त्रीवादी दृष्टि से पुरुष समाज के सच को उद्घाटित करने में इनका अपना महत्व है। इन आत्मकथाओं के तुलनात्मक अध्ययन के सन्दर्भ में मेरा उद्देश्य स्त्री समस्याओं पर लेखिकाओं की अनुभूति और विचार दृष्टि के वैशिष्ट्य को समझने की कोशिश करना है। 'स्त्री जीवन की पीड़ा और संघर्ष' के मुद्दे पर इन लेखिकाओं के विचार को जानना मेरे तुलनात्मक अध्ययन का मुख्य पक्ष है। आत्मकथाओं के चयन के लिए मैंने 'स्त्री जीवन की पीड़ा और संघर्ष' के मुद्दे को आधार के रूप में रखा है। ये आत्मकथाएं स्त्री जीवन की पीड़ा के साथ–साथ स्त्री के संघर्ष का प्रतिनिधित्व करती हैं। इनमें पुरुष मानसिकता के सन्दर्भ में स्त्री के अनुभव को प्रतिरोध और विवशता दोनों रूपों में सामने लाया गया है। कहीं स्त्रीत्व की कमजोर कड़ियां उजागर होती हैं तो कहीं स्त्रीत्व अपनी पूरी ताकत के साथ पुरुष वर्चस्व को चुनौती देता जान पड़ता है।

'स्त्री जीवन की पीड़ा और संघर्ष' के विविध स्वरूप को जानने–समझने में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के साथ प्रभा खेतान, मन्नू भण्डारी और मैत्रेयी पुष्पा का लेखन अपना विशिष्ट महत्व रखता है। बन्धन से लेकर मुक्ति तक का सफ़रनामा

इन आत्मकथाओं में उद्घाटित हुआ है। यहां परम्परावादी स्त्री की समस्याएं भी सामने आई हैं तो आधुनिक स्वतंत्र स्त्री की विवशता भी देखी जा सकती है। स्त्री–पुरुष के सम्बन्धों में पति–पत्नी के तनाव भी इनमें देखे जा सकते हैं तो प्रेमी–प्रेमिका के जीवन की कड़वाहट भी देखने को मिलती है। ये आत्मकथाएँ पुरुष कुंठा की पोल भी खोलती हैं तो पुरुष के आगे स्त्री की लाचारी को भी अभिव्यक्त करती हैं। कहीं समाज से भय खाती स्त्री भी सामने आती है तो कहीं समाज के सामने खम ठोककर कर खड़ी स्त्री भी देखी जा सकती है। स्त्री आत्मकथाओं में स्वतन्त्र अस्तित्व की छटपटाहट से लेकर अकेलेपन की पीड़ा के स्वर भी विद्यमान हैं। स्त्री आत्मकथाओं में कहीं अपने घर को उजड़ने से बचाने की विवशता है तो कहीं अपना घर न बसा पाने की पीड़ा। इनमें कहीं समान कार्य क्षेत्र की प्रतिद्वन्द्विता के तनाव हैं तो कहीं असमान कार्य क्षेत्र की टकराहट। इनमें जीवन में सफल पति की धौंस भी शामिल है तो असफल पति की कुंठित प्रतिक्रिया भी।

(i) 'अन्या से अनन्या' और 'पिंजरे की मैना'

प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' और चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' के तुलनात्मक अध्ययन से पूर्व लेखिकाओं की आत्मकथा के प्रति विचारदृष्टि को समझना जरूरी है। प्रभा खेतान आत्मकथा को परिभाषित करती हैं– "वैसे आत्मकथा लिखना तो स्ट्रीप्टीस का नाच है। आप चौराहे पर एक–एक कपड़े उतारते आते हैं। लिखने वाले के मन में आत्मप्रदर्शन का भाव किसी न किसी रूप में मौजूद रहता है। मन के किसी कोने में हल्की सी चाहत रहती है कि लोग उसे गलत न समझें। जो कुछ भी लिखा जा रहा है उसे सही परिप्रेक्ष्य में लिया जाये। दर्शकवृन्द अपना–अपना निर्णय लेने में स्वतंत्र हैं। उनका मन, वे इसको देखे या फिर पलट कर चले जाये।"[1]

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की दृष्टि में "आत्मकथा किसी व्यक्ति की जीवन यात्रा होती है। ... यह जीवन यात्रा तभी समाज के लिए उपयोगी होगी जब उस

[1] प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 255

यात्रा कथा में पाठक को समाज या युग या मनुष्य का वर्णन रसमय और वास्तविक रूप में प्रतिबिम्बित मिले। उसे पढ़कर पाठक उन बुराइयों के प्रति सचेत हो जो समाज को पिछड़ापन देती है।''[2]

प्रभा खेतान आत्मकथा लेखन में आत्मप्रदर्शन से बचने को चुनौती की तरह मानती हैं। वह पाठक को निर्णय लेने की स्वतंत्रता देती हैं। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा आत्मकथा लेखन की सामाजिक उपयोगिता पर अधिक जोर देती है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा आत्मकथा को सामाजिक शिक्षा के स्तर पर देखती हैं। दोनों ने आत्मकथा में अनुभूत सत्य की अभिव्यक्ति पर विशेष बल दिया है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा और प्रभा खेतान स्त्री समस्याओं पर खुलकर अपने विचार रखती है। स्त्री समस्या के विविध रूपों को समझने में दोनों ही आत्मकथाओं का अपना वैशिष्ट्य है। प्रभा खेतान का बचपन मारवाड़ी परिवार में गुजरा है। मारवाड़ी परिवार में लड़की की क्या स्थिति होती है, उसे किस प्रकार की उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है, इन सबके बारे में प्रभा खेतान का अनुभूत सत्य 'अन्या से अनन्या' में अभिव्यक्त हुआ है। प्रभा खेतान ने इस सच को सामने रखा है कि न केवल परिवार में लड़की को लिंगभेद का शिकार होना पड़ता है वरन उसे रंगभेद का शिकार भी होना पड़ता है। बकौल प्रभा खेतान ''मैं उपेक्षिता थी, आत्मसम्मान की कमी ने मेरा जिन्दगी भर पीछा किया।... मां ने प्यार नहीं किया, यह तो समझ रही थी क्योंकि मैं ठहरी काली। माँ की तरह गोरी नहीं। मैं बहुत शांत, गीता (बहिन) की तरह स्मार्ट नहीं, मुंह पर फटाफट जवाब नहीं दे पाती, लेकिन मैं पढ़ने में तो अच्छी थी क्या यह काफी नहीं था?''[3] स्त्री के रंग रूप पर उसकी पारिवारिक स्थिति निर्धारित होती है। लड़की काली है तो परिवार के लिए समस्या की तरह देखी जाती है। क्योंकि कालेपन के कारण उसका बाजारीकरण नहीं हो पाता है। लड़की का रंग गोरा है तो शादी को लेकर समस्या कम रहती है। लड़की को वस्तु की तरह देखा जात है जहाँ बाहरी 'टिप–टॉप' का ही महत्व हो जाता है, भावनाओं और संवेदनाओं का नहीं।

---

[2] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, भूमिका
[3] प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 26

प्रभा खेतान ने परिवार नाम की इस संस्था पर सवाल उठाये हैं जो स्त्री को सुरक्षा देने का दावा करती है। लड़की के हर कदम को परिवार की इज्जत और सम्मान के साथ जोड़कर देखा जाता है। परिवार के मान–सम्मान का भार लड़की पर लाद दिया जाता है। परिवार में लड़की जिस उत्पीड़न के दौर से गुजरती है उसका विरोध भी वह नहीं कर पाती है। रिश्तों की ओट में लड़की के साथ क्या–क्या होता है? उसे किस प्रकार खामोश रखा जाता है? आखिर परिवार किस सुरक्षा की बात करता है? प्रभा खेतान से खिलवाड़ बाहर भी होता है और घर में भी। प्रभा खेतान सवाल उठाती हैं कि स्त्री को उत्पीड़न के विरुद्ध मौन रहने की शिक्षा एक स्त्री द्वारा ही क्यों दी जाती है? बकौल प्रभा खेतान "उस दिन दाई मां ने भी तो यही कहा था– काहू से ना कहियो अपने पति से भी नहीं। पर क्यों? उत्पीड़न के बावजूद औरत से खामोश रहने को कहा जाता है।"[4]

देह की पवित्रता के नाम पर स्त्री को सामाजिक बंधनों में जकड़ दिया जाता है। प्रभा खेतान स्त्री मुक्ति के सन्दर्भ में देह की स्वतंत्रता को स्त्री स्वाधीनता से जोड़ती हैं। अर्चना वर्मा के शब्दों में कहें– "हमारे समाज में स्त्री के सन्दर्भ में सामान्यतः बंधन को स्त्री की देह की पवित्रता–कौमार्य और सतीत्व के साथ जोड़ा जाता है। दोनों ही धारणाएं पुरुष की निजी संपति के रूप में स्त्री के अस्तित्व की पहचान के साथ जुड़ी हैं। इसलिए स्त्री–मुक्ति का स्वप्न भी अपनी देह पर उसके अपने अधिकार (दावे) दखल के साथ आरम्भ होता है।"[5]

प्रभा खेतान ने परिवार और रिश्तेदारी के असली स्वरूप को देखा भी है और भोगा भी। तभी तो वह अपने से उम्र में बड़े शादी–शुदा डॉक्टर के प्रति आकर्षित हो जाती हैं। डॉक्टर की बाँहों में वह अपने को सुरक्षित महसूस करती हैं। प्रभा खेतान का डॉक्टर के प्रति प्रेम स्त्री का विद्रोह है। यह प्रेम से अधिक स्त्री का अपनी देह पर दावा है। यह मुक्ति की आकांक्षा है जो देह से शुरू होती है।

---

[4] प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 73
[5] हंस (राजेन्द्र यादव), जून 2007, अर्चना वर्मा का लेख 'एक मुक्त स्त्री का रेखाचित्र', पृ. 58

प्रभा खेतान ने पुरुष वर्चस्व वाले समाज में स्त्री की विवशता को शादी के सन्दर्भ में सामने रखा है। समाज में पुरुष के अविवाहित होने पर प्रतिक्रिया नहीं होती परन्तु लड़की के अविवाहित रहने पर हायतोबा मच जाती है। पूरा परिवार लड़की के कंवारेपन को अपने ऊपर खतरे की तरह देखता है। इसका वाजिब कारण भी है शादी के नाम पर बहुत कुछ ढका रह जाता है। शादी दागों को छिपा लेती है। जब स्त्री की देह पर दाग लगने ही हैं तब शादी भी उन्हें छिपाने के लिए जरूरी है। प्रभा खेतान लिखती हैं– "अम्मा की चिट्ठी में फिर एक और नसीहत, बेटा शादी कर ले, लाल घाघरे में सारे दाग छुपते हैं लेकिन सफेद आँचल में लगा जरा–सा छींटा सबको दिखलाई पड़ता है।"[6]

प्रभा खेतान की आत्मकथा स्त्री की स्वतंत्र पहचान का मुद्दा उठाती है। समाज में स्त्री को सधवा, विधवा और वैश्या इन कटघरों में ही क्यों कैद कर दिया जाता है। क्या स्त्री, सिर्फ स्त्री नहीं हो सकती है? इन विशेषणों से मुक्ति ही स्त्री की सच्ची स्वाधीनता है। बकौल प्रभा खेतान "मैं प्रभा खेतान .. मैं कौन हूँ? क्या मेरी कोई पहचान नहीं है? मैं सधवा नहीं, क्योंकि मेरी शादी नहीं हुई, मैं विधवा नहीं क्योंकि कोई दिवंगत पति नहीं, मैं कोठे पर बैठी रंडी भी नहीं क्योंकि मैं अपनी देह का व्यापार नहीं करती।"[7]

प्रभा खेतान ने स्त्री की मुक्ति की आकांक्षा के साथ स्वतंत्र स्त्री की विवशता पर भी विचार किया है। स्त्री का विद्रोह भी अगले चरण में उसकी विवशता का कारण बन जाता है। स्वाधीन चुनाव के नशे में सामाजिक तिरस्कार के आरम्भिक दौर को झेल जाने के बाद का खालीपन और अकेलापन इस स्वाधीनता के खोखलेपन को सिद्ध कर देता है। एक बार फिर यह मुक्ति ढकोसला बन कर रह जाती है। स्वाधीन होने के नाम पर गलत चयन समस्या को और अधिक जटिल बना देता है। स्वयं प्रभा खेतान के शब्दों में "मैं अकेली थी, इतनी अकेली कि मैं किसी का रोल मॉडल नहीं बन सकी। कोई लड़की मेरे जैसी नहीं होना चाहती थी। मेरी तमाम सफलताएं सामाजिक कसौटी पर पछाड़ खाने

---

[6] प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 147
[7] वही, पृ. 12

लगतीं। सारी उपलब्धियाँ अपनी चमक खो देती। अतः मेरी स्वतंत्रता एक जहरीली स्वतंत्रता थी। जहां तनाव अधिक था, कभी न खुलने वाली गांठें थीं।"[8] ऐसे बहुत से उदाहरण देखे जाते हैं जब सचेत, सजग और मुक्तिकामी स्त्रियों ने स्वेच्छा से दूसरी पत्नी बनना स्वीकार किया। नतीजा निकलता है पहली औरत के साथ ईर्ष्या और प्रतियोगता। पहली औरत को हराने की कोशिश में समर्पण की हदों को आत्महनन के पार तक ले जाना। पुरुष दोनों को भोग रहा है। वह और अधिक शक्तिशाली हो जाता है, स्त्री और अधिक कमजोर बन कर रह जाती है। प्रभा खेतान ने आत्मकथा में भारतीय नारीवाद और पश्चिमी नारीवाद के अन्तर को उजागर किया है। नारी मुक्ति का अर्थ जो पश्चिमी औरत के लिए हो सकता है वह भारतीय औरत के लिए नहीं। पश्चिम की नकल भारतीय नारीवाद के अनुकूल नहीं है। पश्चिमी नारी देह की मुक्ति के साथ उत्तरदायित्व की मुक्ति चाहती है। पश्चिमी नारी अपने बच्चों का भार भी नहीं उठाना चाहती जबकि भारतीय नारी मां न होकर भी मां की तरह पति के बच्चों का भार उठाने के लिए तैयार है। प्रभा खेतान इसी भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती हैं।

'अन्या से अनन्या' और 'पिंजरे की मैना' में अभिव्यक्त स्त्री समस्याओं पर विचार किया जाये तो समस्याओं के अलग–अलग रूप सामने आयेंगे। प्रभा खेतान स्त्री मुक्ति के सन्दर्भ में परम्परावादी स्त्री चरित्र को एक सिरे से नकार देती हैं। प्रभा खेतान को अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिए पत्नी वाला रूप स्वीकार नहीं है। वह प्रेमिका बन कर पुरुष के साथ अपने सम्बन्ध को परिभाषित करती हैं। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा परम्परावादी पत्नी के चरित्र को सामने रख कर चलती हैं। प्रभा खेतान की समस्या मुक्त स्त्री की समस्या है जबकि चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की समस्या आदर्श पत्नी की समस्या। प्रभा खेतान पति पत्नी के बीच एक 'अन्या' की भूमिका में है। सामाजिक दृष्टि से अवैध रिश्ते के कारण उसे बुरी औरत कहा जा रहा है। प्रभा खेतान स्वयं कहीं न कहीं अपने को दोषी मान रही हैं। वह मानती हैं कि उसने किसी और के पति को झपटने का अपराध किया है। चन्द्रकिरण

---

[8] प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 174

सौनरेक्सा की समस्या प्रथम पत्नी के स्तर पर है। वह पति के अवैध सम्बन्धों से परेशान हैं। वह स्वयं दोषी नहीं हैं परन्तु पति की गलतियों की पीड़ा भोग रही हैं। डॉक्टर सर्राफ की पहली पत्नी की पीड़ा चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की पीड़ा है। स्त्री होने की विवशता प्रभा खेतान के साथ भी है और चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के साथ भी। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा पति के अवैध सम्बन्धों के कारण हीनता से ग्रसित हैं तो प्रभा खेतान अपने अवैध सम्बन्ध को वैध न बना पाने की हीनता की शिकार।

प्रभा खेतान आर्थिक रूप से सुदृढ़ व्यापारिक महिला है। आर्थिक समस्याओं की विवशता उनके यहां नहीं है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की समस्याओं में आर्थिक संकट की महत्वपूर्ण भूमिका है। चन्द्रकिरण का प्रयास परिवार को आर्थिक संकट से उबारने का है। प्रभा खेतान और चन्द्रकिरण में भले ही आर्थिक स्थिति को लेकर अन्तर रहा हो परन्तु स्त्री के स्तर पर दोनों की विवशता समान है। निर्णय के स्तर पर दोनों ही पुरुष के अधीन हो जाती हैं। चन्द्रकिरण के पास कमाने के बाद भी खर्च की स्वतंत्रता नहीं। प्रभा खेतान के पास व्यापार में इन्वेस्ट की स्वतंत्रता नहीं है। बकौल प्रभा खेतान "व्यापार मैं कर रही थी मगर पैसे का कंट्रोल डॉक्टर साहब कर रहे थे। कहां कितना पैसा लगाना है, किसके पास कितना रुपया जाना है इसका निर्णय वही लेते थे।"[9] चन्द्रकिरण को भी आवश्यक खर्च के लिए पति के आगे हाथ फैलाना पड़ता है। पत्नी की कमाई पर पति अधिकार जमाकर बैठ जाता है। पत्नी चाह कर भी प्रतिरोध नहीं कर पा रही है।

'पिंजरे की मैना' में घर परिवार के बीच खटती स्त्री की समस्याएं सामने आती हैं। चन्द्रकिरण में मुक्ति की छटपटाहट नहीं है। उसे परिवार से शिकायत नहीं है। वह परिवार की जिम्मेदारियां कुशलतापूर्वक निभा रही है। वह अपनी सामाजिक छवि को लेकर अधिक सजग है। चन्द्रकिरण की समस्याएं घरेलू स्त्री की समस्याएं हैं। जहां स्त्री को जैसे तैसे भी मेहमानों की सेवा करनी है, रिश्तेदारी निभानी है। ससुराल पक्ष और पितृपक्ष के बीच एक सन्तुलन बनाकर चलना है। चन्द्रकिरण की समस्या पति की गैर जिम्मेदारी से सम्बन्धित है। चन्द्रकिरण में स्त्री

---

[9] प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 211

की स्वाधीन चेतना की जगह सामाजिक चेतना की प्रधानता है। प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या' में स्त्री का आधुनिक चरित्र सामने आता है। यहां स्त्री का परम्परावादी चरित्र पीछे छूट जाता है। स्त्री मुक्ति की तलाश में है। वह अपने अस्तित्व को लेकर सजग है। यहां स्त्री के सामने पति, परिवार और बच्चों की समस्याएं नहीं हैं। यहां समस्या स्त्री के अकेलेपन की है। प्रभा खेतान भले ही इसे अपनी विशिष्ट पहचान कहें परन्तु अकेलेपन की पीड़ा को नकारा नहीं जा सकता है। प्रभा खेतान के शब्दों में "मेरे साथ मेरा अकेलापन हमेशा रहा है, पर यह अकेलापन मुझे जीवन का अर्थ भी समझाता रहा है। मैंने अपने आपको बचाया है, अपने मूल्यों को जीवन में संजोया है। हां टूटी हूं बार–बार टूटी हूं पर कहीं तो चोट के निशान नहीं हैं। दुनिया के पैरों तले रौंदी गई, पर मैं मिट्टी के लोंदे में परिवर्तित नहीं हो पाई। इस उम्र में भी एक पूरी की पूरी साबुत औरत हूं, जो जिन्दगी को झेल नहीं रही बल्कि हंसते हुए जी रही है। जिसे अपनी उपलब्धियों पर नाज है।"[10]

'अन्या से अनन्या' में एक ओर स्त्री के लिए मुक्ति की उड़ानें हैं तो दूसरी ओर पुनः लौटकर उसी दायरे में बंधे रहने की विवशता भी। एक सीमा के बाद मुक्ति के लिए किया गया विद्रोह भी बंधन की विवशता बन जाता है। किसी पुरुष की दूसरी पत्नी बनकर स्वाधीन चयन करने वाली स्त्री, तीसरी पत्नी के संभावित खतरे से कितना परेशान हो सकती है। पहली पत्नी की दूसरी के हाथों भले हार हुई हो फिर भी वह पत्नी है और पत्नी रह जायेगी। अब अगर तीसरी औरत उसी पुरुष के जीवन में आये तो उस दूसरी का क्या होगा। वह तो कहीं की नहीं रहेगी। तीसरी का पहली पर कुछ ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ने वाला है। अब इस प्रतिद्वन्द्विता को अकेली दूसरी को ही झेलना पड़ता है। यही कारण है कि पुरुष की दुनिया में आई हर दूसरी औरत को समर्पण की हद पार करनी पड़ती है। प्रभा खेतान की अन्या से कमतर अन्या की पीड़ा इसी दूसरी स्त्री की पीड़ा है। यहां आकर उसके सारे विद्रोही तेवर ठण्डे पड़ जाते हैं। अब उसे स्वीकार करना

---

[10] प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 29

पड़ता है कि वह पति–पत्नी के बीच एक 'दूसरी औरत' है, जो पत्नी न होकर पत्नी की जिम्मेदारियाँ उठाने के लिए विवश है। अपने बच्चे नहीं हैं फिर भी पति के बच्चो का भार उठाना पड़ रहा है। वह मां नहीं है फिर भी मां की चिन्ता से मुक्त नहीं है।

पुरुष मानसिकता के सन्दर्भ में प्रभा खेतान और चन्द्रकिरण सौनरेक्सा का अनुभव लगभग एक जैसा है। समझौते करने की विवशता दोनों में है। दोनों ही ऐसे पुरुष के साथ बंधी रहीं जिससे अक्सर उनकी अस्मिता टकराती रही। चन्द्रकिरण में परम्परावादी आदर्श पत्नी बनने की पीड़ा है तो प्रभा खेतान में न परम्परावादी और न आधुनिक बन पाने की पीड़ा। प्रभा खेतान अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लाख दावों के बाद भी पुरुष मित्र की अधीनता से मुक्त नहीं है। पुरुष उसे शक की निगाह से देखता है और वह सफाई देती–देती हार जाती हैं। बकौल प्रभा खेतान "अरे छोड़ो ये जुमले! तुम इस हद तक गिरी हुई हो, मैं सोच भी नहीं सकता था। कहो और कितने यार हैं तुम्हारे? और कितने चक्कर चलाओगी तुम?"[11] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा अपनी सारी पीड़ा को आदर्श पत्नी की पीड़ा के रूप में देखती हैं। चन्द्रकिरण का पश्चाताप यही है कि उसका आदर्शवाद ही उसके उत्पीड़न का कारण है। बकौल चन्द्रकिरण "आज मैं, और किसी को नहीं, बस स्वयं को इतनी आज्ञाकारी पत्नी होने पर दोषी ठहराती हूं। यह कोई गर्व की बात नहीं, दुःख की बात है। पश्चाताप के सिवा मेरे हाथ कुछ नहीं लगा।"[12]

अपने रंग–रूप को लेकर हीनता ग्रन्थि प्रभा खेतान में भी है तो चन्द्रकिरण में भी। यह स्त्री जीवन का सच है, किसी प्रभा खेतान और चन्द्रकिरण के व्यक्तित्व की समस्या मात्र नहीं है। स्त्री अपने शरीर को पुरुष की दृष्टि से देखती है। यही कारण है कि एक अतृप्ति और अपूर्णता सदैव बनी रहती है। प्रभा खेतान के शब्दों में "धीरे–धीरे मेरे लिए फिगरेट का काब उबाऊ होता जा रहा था, बोरियत से भरपूर ... दस साल के दौरान एक भी ऐसी स्त्री से परिचय नहीं हुआ

---

[11] प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 164
[12] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 317

जो अपने आप से अपनी देह से, रंग–रूप से सन्तुष्ट हो। औरत इस हद तक वस्तु हो जाती है कि अपनी देह की एक–एक परत को दूसरों की नजर से तौलती रहती है और नापने–जोखने तौलने के बाद की अतृप्ति, पूर्णता हासिल नहीं कर पाने की हार और औरत थकान को तोड़कर रख देती है।''[13]

'अन्या से अनन्या' में मुक्ति की उड़ान है, भले ही लौट आने की विवशता रही हो। यहां दैनिक जीवन की समस्या कम और अपने वर्चस्व की समस्या अधिक है। इसे 'स्त्री की विवशता' की जगह 'मुक्त स्त्री की विवशता' भी कहा जा सकता है। 'अन्या से अनन्या' में एक कार्य क्षेत्र के पुरुष–स्त्री की प्रतिद्वन्द्विता नहीं है। स्त्री के पास अपने स्व की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त समय है। पुरुष को शिकायत जरूर है लेकिन प्रतिद्वन्द्विता नहीं। शिकायत होते हुए भी स्त्री को मनचाहा जीवन जीने को छूट भी है और अवसर भी। स्त्री पीड़ा का असली रूप 'पिंजरे की मैना' में सामने आता है। यहां मुक्ति की उड़ान तो दूर मुक्ति का अहसास तक नहीं। चन्द्रकिरण की दिनचर्या में अपने लिए समय नहीं है। वह घर से बाहर निकली है तो आर्थिक विवशता के कारण। घर में लौटते ही स्त्री का परम्परावादी चरित्र उस पर हावी हो जाता है। प्रत्येक कार्य में उसके लिए पति की सहमति आवश्यक हो जाती है। समान अभिरुचि की समस्याएँ भी चन्द्रकिरण झेल रही है। पत्नी का साहित्य के क्षेत्र में सफल प्रवेश पति को कितना असहनीय हो सकता है? पति अपनी असफलताओं का दंश किस प्रकार पत्नी को झेलने के लिए मजबूर करता है? पत्नी की साहित्यिक प्रतिभा को कैसे कुंद किया जाता है? इन सब की पीड़ा को चन्द्रकिरण ने झेला है। पति के आगे कैसे पत्नी विवश और लाचार हो जाती है इसका उदाहरण है चन्द्रकिरण की जीवन। पत्नी की सफलता का प्रतिकार पुरुष कैसे करता है? पत्नी को हराने के लिए पति कैसे–कैसे मोर्चे खोल सकता है? बकौल चन्द्रकिरण ''तुमने भी कहानी भेजते समय पत्र में कुछ न कुछ तो लिखा ही होगा जरूर ... उसके चूतड़ों में घी मला होगा।''[14] पुरुष स्त्री को कमजोरी को समझता है। वह स्त्री देह पर अपना अधिकार समझता है। हर

---

[13] प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 170
[14] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 220

बार वह इसी हथियार का प्रयोग करके स्त्री को विवश और लाचार बना देता है। आज भी पत्नी की हत्या करने वाला व्यक्ति यही कहते सुना जाता है, मुझे पत्नी के चरित्र पर शक था। कभी किसी स्त्री ने पति की हत्या उसके चरित्र पर शक के आधार पर नहीं की। देह की पवित्रता का सिद्धान्त पुरुष पर लागू नहीं होता है और स्त्री का पूरा जीवन इसी से संचालित होता है। स्त्री का संघर्ष सही अर्थों में देह की मुक्ति का संघर्ष है। स्त्री जब तक देह की मुक्ति का अधिकार नहीं पा लेगी तब तक सच्ची स्वतंत्रता का उपभोग नहीं कर पायेगी। आर्थिक रूप से सक्षम स्त्री भी पुरुष के आगे विवश और लाचार हो जाती है क्योंकि अभी तक वह देह की मुक्ति को नहीं प्राप्त कर सकी है।

स्त्री के लिए देह की पवित्रता और सतीत्व जैसे मिथक पुरुष द्वारा स्त्री को अपने अधीन रखने के लिए रचे गये हैं। पुरुष द्वारा स्त्री को जिस सुरक्षा का आश्वासन दिया जाता है उससे स्त्री सुरक्षित के बजाय असुरक्षित अधिक हो जाती है। पुरुष की मनमर्जी का शिकार हो जाती है। प्रभा खेतान मानती है "हमारी औरतें वह चाहे बाल कटी हों या गांव देहात से आई हो, कहीं भी सुरक्षित नहीं है। उनके साथ कुछ भी घट सकता है। सुरक्षा का आश्वासन पितृसत्तात्मक मिथक है। स्त्री कभी सुरक्षित थी ही नहीं। पुरुष भी इस बात को जानता है। इसलिए सतीत्व का मिथक संवर्द्धित करता रहता है। सती–सावित्री बने रहने का निर्देश स्त्री को दिया जाता है। पर कोई स्त्री सती रह नहीं पाती है। हां सतीत्व का आवरण जरूर ओढ़ लेती है। या फिर आत्मरक्षा के नाम पर जौहर की ज्वाला में छलांग लगा लेती है।"[15]

'पिंजरे की मैना' में वर्णनात्मक शैली को अपनाया गया है। भाषा की सहजता और सरलता के साथ शिल्प के स्तर पर कोई खास प्रयोग चन्द्रकिरण ने नहीं किया। चन्द्रकिरण ने कथ्य के माध्यम से अधिक से अधिक अपने पक्ष को खोलने का प्रयास किया है। अपने जीवन प्रसंगों को बिना किसी दुराव–छिपाव के आत्मकथा में अभिव्यक्त किया है। अपने बारे में या पति के बारे में लिखते समय

---

[15] प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 208

चन्द्रकिरण ने संकेतों का सहारा नहीं लिया है। आत्मकथा के माध्यम से जितना कहना चाहा, साफ–साफ कहा गया है 'अन्या से अनन्या' में प्रभा खेतान एक विशिष्ट तेवर में अपने को अभिव्यक्त करती है। वह व्यवस्था पर सवालिया निशान लगाती हैं तो स्त्री की विवशता पर झुंझलाती भी है। प्रभा खेतान लिखते समय किसी आदर्श को सामने नहीं रखती है। न ही उसे अपनी छवि के बनने–बिगड़ने का भय। प्रभा खेतान की भाषा में अपने जीवन के उतार–चढ़ावों की भांति शैली का उतार–चढ़ाव भी है। वह अपनी कमजोरी की बात करती है तो अपनी ताकत जताना भी नहीं भूलती।

'अन्या से अनन्या' में अभिव्यक्त स्त्री समस्याएं बहुत हद तक स्वयं स्त्री द्वारा किये गये स्वाधीन चयन से भी जुड़ी है। एक सीमा के बाद गलत चयन, चयन न कर पाने की विवशता से अधिक पीड़ादायक हो जाता है। यहां आपके साथ सहानुभूति रखने वाला या आपके दुःख को बांटने वाला कोई नहीं होगा। भविष्य को लेकर आश्वस्ति भी नहीं रहेगी। जीवन में स्त्री पुरुष का सम्बन्ध ही सब कुछ नहीं है। समाज को नकार कर जीना कभी संभव नहीं है। बंधन से रहित मुक्ति के अपने खतरे हैं। हां यह जरूर है कि बंधन की पीड़ा भी स्त्री को ही भोगनी पड़ती है ओर मुक्ति के खतरे भी उसे ही झेलने पड़ते हें चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की पीड़ा आम स्त्री की पीड़ा है। यहां पितृसत्तात्मक व्यवस्था के दोष प्रत्यक्ष सामने आते हैं। चन्द्रकिरण की विवशता 'सामान्य स्त्री' की विवशता है। 'पिंजरे की मैना' अधिक व्यापक स्त्री समाज का प्रतिनिधित्व करती है। यही कारण है कि 'पिंजरे की मैना' में अभिव्यक्त प्रतिरोध का दायरा 'अन्या से अनन्या' से अधिक बड़ा है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, प्रभा खेतान की तरह 'पत्नी' नामक संस्था को चुनौती नहीं दे रही है। चन्द्रकिरण पत्नी होने की पीड़ा को प्रकट कर रही है।

(ii) 'एक कहानी यह भी' और 'पिंजरे की मैना'

मन्नू भण्डारी की आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' पुरुष वर्चस्व के विरुद्ध स्त्री का सशक्त प्रतिरोध है। यद्यपि मन्नू भण्डारी इसे व्याकुल भाव से आत्मकथा न मानने का आग्रह करती है। मन्नू भण्डारी यह भी कहती है कि कथाकार को आत्मकथा

नहीं लिखनी चाहिए। आत्मकथा के अंश तो यूं ही उसके साहित्य में आ जाते हैं। फिर निजी जीवन के प्रसंगों, तनावों, विश्वासघातों, आरोपों और शिकायतों से भरपूर इस आत्मकथात्मक रचना को क्या कहा जाए? अर्चना वर्मा के शब्दों में ''मन्नू भण्डारी इसे आत्मकथा नहीं मानती और पाठक के लिए यह सनसनीखेज हैरतअंगेज आत्मकथा का दरजा रखती हैं।''[16] कुछ आलोचकों के नजर में 'एक कहानी यह भी' एक प्रतिवादी की ओर से दाखिल जवाब दावा है। उनकी नजर में इसमें सपाटबयानी तो है पर साहित्यिकता नहीं। रोहिणी अग्रवाल ऐसा ही मानती है ''यह सिर्फ और सिर्फ राजेन्द्र यादव को घेर घार कर दुर–दुराने, मारने का महानुष्ठान है। फलतः साहित्यिक रचना से अधिक वैयक्तिक राग–द्वेष की अभिव्यक्ति है।''[17] रोहिणी अग्रवाल के लिए हाशिए के बाहर धकेली पत्नी की अन्याय के खिलाफ सपाटबयानी कोई साहित्यिक महत्व नहीं रखती है और शब्द जाल में लिपटी राजेन्द्र यादव की 'मुड़–मुड़कर देखता हूँ' एक साहित्यिक कृति बन जाती है। रोहणी अग्रवाल के शब्दों में ''एक कहानी यह भी' घटनाओं और ब्यौरों की सपाट बयानी है और 'मुड़–मुड़कर देखता हूँ' एक साहित्यिक कृति।''[18] भोक्ता के जीवन सच में अगर साहित्यिकता नजर नहीं आये तो इसमें मन्नू भण्डारी का क्या दोष है। रोहिणी अग्रवाल रचनात्मकता के नाम पर आत्मकथा के जिस कमजोर पक्ष की बात करती हैं वही पक्ष अर्चना वर्मा के अनुसार इसका अधिक मानवीय और रचनात्मक पक्ष है। अर्चना वर्मा मानती हैं ''यहां भी वह अपने पात्र को भरसक एक रचनाकार की दृष्टि से देखती है लेकिन कभी–कभी अगर रचनाकार के हाथों से पत्नी स्पीकर छीन लेती है तो यह कथा का एक अधिक मानवीय आयाम है, जिसका अपना औचित्य है।''[19]

---

[16] हंस (राजेन्द्र यादव), मई 2007, अर्चना वर्मा का लेख 'रचनात्मक सूत्रों की तलाश में पुनर्यात्राः एक आत्मकथ्य', पृ. 81

[17] हंस (राजेन्द्र यादव), मई 2007, रोहिणी अग्रवाल का लेख, ''एक कहानी यह भी'': कटघरे में खड़े अहं, , पृ. 88

[18] हंस (राजेन्द्र यादव), मई 2007, रोहिणी अग्रवाल का लेख, ''एक कहानी यह भी'': कटघरे में खड़े अहं, , पृ. 89

[19] हंस (राजेन्द्र यादव), मई 2007, अर्चना वर्मा का लेख 'रचनात्मक सूत्रों की तलाश में पुनर्यात्राः एक आत्मकथ्य', पृ. 83

आत्मकथा के स्वरूप को लेकर उठी बहस से बाहर निकल कर देखा जाये तो 'एक कहानी यह भी' मन्नू भण्डारी की लेखकीय यात्रा के साथ–साथ अपने परिवेश और निजी व्यक्तित्व की कहानी भी है। साथ ही इसका एक पक्ष राजेन्द्र यादव के असली चरित्र को सामने लाना भी है। भले ही ऐसा प्रतिक्रिया स्वरूप किया गया हो। 'एक कहानी यह भी' में स्त्री का प्रतिरोध भी है और विवशता भी। प्रतिरोध के रूप में पुरुष वर्चस्व की निरंकुशता और क्रूरता को कठघरे में खड़ा किया गया है। विवशता इस बात की है कि चाह कर भी, लाख कोशिश करके भी वह कुछ भी नहीं बदल पाई। पुरुष अहं के आगे हार गई। पत्नी के प्रति एकनिष्ठ समर्पण का अभाव, दाम्पत्येतर प्रेम सम्बन्ध की सीनाजोरी , पत्नी की अस्मिता को खंडित करता पुरुष अहं ये सब दुश्वार रूप से जारी रहा। सहजीवन के नाम पर समानान्तर जिंदगी का आधुनिक पैटर्न थमाते पति की ऐयाशियों और विश्वासघातों का सिलसिला बदस्तूर जारी रहा। पत्नी के हिस्से आया जिम्मेदारियों का अनवरत बोझ और असह्य यातनाओं का संसार। आम स्त्री की तरह वही पीड़ा और विवशत का सच– "मैंने राजेन्द्र के साथ एक निहायत ही असन्तुलित जिन्दगी जीते हुए पूरे तीस साल गुजार दिए।"[20]

मन्नू भण्डारी ने पिता से विद्रोह करके राजेन्द्र यादव के साथ प्रेम विवाह किया। एक ही कार्य क्षेत्र फिर भी दिक्कतों का अम्बार रहा। बकौल मन्नू भण्डारी "सब लोग सोचते थे और मुझे भी लगता था कि एक ही रुचि, एक ही पेशा कितना सुगम रहेगा जीवन। मुझे अपने लिखने के लिए तो जैसे राजमार्ग मिल जायेगा, लेकिन एक ही पेशे के दो लोगों का साथ जहां कई सुविधाएं जुटाता है, वहीं दिक्कतों का अम्बार भी लगा देता है– कम से कम मेरा यही अनुभव है।"[21] एक तरफ अपनी इच्छा से की गई शादी को किसी भी कीमत पर असफल नहीं होने देने का दृढ़ निश्चय तो दूसरी तरफ समानान्तर जिंदगी का आधुनिक पैटर्न लिए खड़ा पति इनमें फंसी स्त्री की पीड़ा की अभिव्यक्ति है 'एक कहानी यह भी'।

---

[20] मन्नू भण्डारी, 'एक कहानी यह भी', राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 173
[21] मन्नू भण्डारी, 'एक कहानी यह भी', राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 56

'एक कहानी यह भी' मन्नू भण्डारी की लेखकीय यात्रा का ब्यौरा है। मन्नू भण्डारी ने समकालीन साहित्यकारों के सन्दर्भ में भी अपने विचार अवसरानुसार रखे हैं। साहित्यकारों के दाव–पेंच, एक–दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयास यह सब आत्मकथा को परिवेश से जोड़ते हैं। मन्नू भण्डारी ने स्त्री समस्या पर तार्किक दृष्टि से विचार किया है। यद्यपि पुरुष मानसिकता के प्रतिरोध में बार–बार उनका टकराव राजेन्द्र यादव से ही शुरू होता है। मन्नू भण्डारी ने 'स्त्री–विमर्श के पुरोधा' के निजी जीवन की कमियों या यूं कहें पुरुष अहं को सामने लाने की कोशिश की है। बकौल मन्नू भण्डारी ''पर अपने को विशिष्ट मानने वाले राजेन्द्र की धारणा पत्नी की भूमिका के बारे में विशिष्ट ही नहीं, सचमुच चौंकाने वाली थी। इनके हिसाब से पत्नी को एक नर्स की भांति होना चाहिए जो सिर्फ़ पति की सेवा करे, बदले में उससे अपेक्षा कुछ न करे।''[22]

'पिंजरे की मैना' और 'एक कहानी यह भी' को तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो दोनों ही आत्मकथाओं में उत्पीड़न की शिकार स्त्री की कथा है। 'पिंजरे की मैना' में पत्नी की विवशता अधिक है और 'एक कहानी यह भी' में पत्नी की पीड़ा अधिक। आत्महीनता की ग्रन्थि की शिकार मन्नू भण्डारी भी है और चन्द्रकिरण सौनरेक्सा भी। स्त्री–पुरुष के एक कार्य क्षेत्र के तनाव–टकवाव दोनों आत्मकथाओं का विशिष्ट पक्ष है। प्रसिद्ध व्यक्ति के साथ जुड़ने के खतरे 'पिंजरे की मैना' में भी हैं तो 'एक कहानी यह भी' में भी। पति के विवाहेतर सम्बन्धों को लेकर घुटती पत्नी की पीड़ा दोनों आत्मकथाओं में अभिव्यक्त हुई है। घर–परिवार की आर्थिक समस्याओं को लेकर जूझती स्त्री का संघर्ष भी दोनों आत्मकथाओं में समान स्तर पर है। पति रूप में चाहे राजेन्द्र यादव हो या कांतिचन्द्र सौनरेक्सा दोनों ही पुरुष के लिए उत्तरदायित्व–रहित और वर्चस्व सहित संसार रचने में विश्वास करते हैं। एक में अपने समकालीनों से पिछड़ने का 'फ्रस्ट्रेशन' है तो दूसरे में पत्नी से पिछड़ने का 'फ्रस्ट्रेशन'। दोनों स्तर पर 'फ्रस्ट्रेशन' का दंश पत्नियों को ही झेलना पड़ा है। एक तरफ पत्नी के अलावा 'दूसरी स्त्री' समान्तर जिन्दगी का

---

[22] मन्नू भण्डारी, 'एक कहानी यह भी', राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 96

पैटर्न है तो दूसरी तरफ व्यापक अनुभूति का एक अंग। एकनिष्ठ पत्नी धर्म के प्रति क्षोभ मन्नू भण्डारी में भी है तो चन्द्रकिरण सौनरेक्सा में भी। मन्नू भण्डारी की पीड़ा ''क्यों मैं सबके सामने एक सुखी सन्तुष्ट गृहिणी का मुखौटा ओढ़ कर यह सब झेलती रही जिसे किसी भी स्त्री के लिए झेल पाना दुष्कर है।'' चन्द्रकिरण सौनरेक्सा का पश्चाताप ''एक मात्र मौन ही मेरे दुःख का साथी था। आज मैं और किसी को नहीं, बस स्वयं को इतनी आज्ञाकारी पत्नी होने पर दोषी ठहराती हूं। और यह कोई गर्व की बात नहीं दुःख की बात है। पश्चाताप के सिवा मेरे हाथ कुछ नहीं लगा।''[23]

'पिंजरे की मैना' में स्त्री की पीड़ा और विवशता है। यहां स्त्री प्रतिरोध का स्वर मंद ही रहा। पति के अवैध सम्बन्धों को लेकर पत्नी की हीनता ग्रन्थि इस कदर सक्रिय है कि प्रतिरोध के स्थान पर पत्नी, पति का सहयोग कर रही है। पति, चटखारे लेकर दूसरी स्त्रियों के साथ सम्बन्धों की कहानी पत्नी को सुनाता है। पत्नी के सामने रंगरेलियां मनाता है। प्रतिरोध तो दूर पत्नी पहरेदार हो जाती है। चन्द्रकिरण के शब्दों में ''उस कमरे का एक दरवाजा गैलरी में खुलता था, उससे मैं गैलरी में आ गई और भीतर से द्वार बंद हो गया। क्रोध, अपमान आत्मग्लानि से मेरा तन मन जल रहा था। आँसू नहीं थे आँखों में। मैं किसी भी कमरे में जाती तो बात खुल जाती। गैलरी में अखबार रखे थे, उन्हीं को बिछाकर द्वार से टेक लगाकर बैठ गई''[24] अपनी आँखों के सामने पति के व्यभिचार को देखना और प्रतिरोध न कर पाना चन्द्रकिरण के व्यक्तित्व की कमजोरी ही कहा जायेगा। एक सामान्य स्त्री के लिए इसे स्वीकार करना संभव नहीं जान पड़ता। फिर भी पुरुष प्रधान समाज में हीन ग्रन्थि की शिकार स्त्री द्वारा ऐसा करना कोई नयी बात भी नहीं है। विकल्प के अभाव में स्त्री की विवशता उसे बेवस और लाचार बना देती है।

स्त्री प्रतिरोध की दृष्टि से 'एक कहानी यह भी' में मन्नू भण्डारी का स्वर अधिक सशक्त है। चन्द्रकिरण जैसी विवशता मन्नू भण्डारी में नहीं है। राजेन्द्र

---

[23] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 317
[24] वही, पृ. 303

यादव के मीता के साथ सम्बन्धों को लेकर मन्नू भण्डारी ने पत्नी के अधिकार के साथ पति को दुरदुराया है। मन्नू भण्डारी पति को उसकी हैसियत बताने में संकोच नहीं करती हैं ''पहले की तरह अब आप इस घर में लौटने की कोशिश भी मत करिएगा। बार–बार का यह तमाशा मेरे लिए असह्य हो गया है। जल्दी से जल्दी घर ढूंढिए और हमेशा के लिए शिफ़्ट हो जाइए।''[25] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा जीवन भर समस्याओं से बचने की कोशिश करती रहीं। वह कभी भी आदर्श पत्नी के खोल से बाहर नहीं निकल पाई। निर्णय लेने की स्वतंत्र कोशिश कभी नहीं की गई। चन्द्रकिरण को गैर बराबरी के समझौते में भी बुद्धिमानी नज़र आई। असुरक्षा का भाव हर बार उसे विवश और लाचार कर गया। मन्नू भण्डारी स्त्री विवशता का रोना नहीं रोती है। उसे तनावपूर्ण साथ की जगह अकेलापन अधिक स्वीकार्य है। वह पत्नी धर्म निभाती है तो पत्नी के अधिकार और दावे भी अपने पास रखती है। बकौल मन्नू भण्डारी ''औरत के मन में एक बार यदि सन्देह के अंकुर उग आएं तो फिर कोई भी रहस्य बहुत दिनों तक रहस्य नहीं बना रह सकता है।''[26]

'पिंजरे की मैना' में स्त्री जीवन की समस्या पति पत्नी के तनाव तक ही सीमित नहीं है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने आर्थिक समस्याओं से जूझती स्त्री को भी सामने रखा है तो रिश्तेदारी–नातेदारी निभाती स्त्री भी उनके भीतर रही है। चन्द्रकिरण ने घर–परिवार के छोटे–छोटे मुद्दों को लेकर स्त्री की विवशता और पुरुष वर्चस्व की धौंस को अभिव्यक्ति दी है। चन्द्रकिरण केवल पति के दूसरी स्त्रियों के साथ सम्बन्ध को ही तनाव का एक कारण नहीं मानती हैं। दैनिक जीवन में पति के गैर–जिम्मेदाराना रवैये से उत्पन्न टकराव को भी सामने लाती है। चन्द्रकिरण बताती है कि किस प्रकार पुरुष अपनी जिम्मेदारियों से बच निकलता है और पति की गैर जिम्मेदारी किस प्रकार पत्नी के जीवन पर भारी पड़ती है। 'पिंजरे की मैना' स्त्री जीवन के सच को दैनिक जीवन की समस्याओं के माध्यम से उद्घाटित करती है। चन्द्रकिरण जीवन के ऐसे मुद्दों पर बात करती है जहां से स्त्री की पीड़ा और संघर्ष की कहानी शुरू होती है। चन्द्रकिरण

---

[25] मन्नू भण्डारी, 'एक कहानी यह भी', राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 198
[26] वही, पृ. 212

सौनरेक्सा स्त्री विवशता के सन्दर्भ में परिवेश और पृष्ठभूमि की सच्चाई को अधिक कुशलता से चित्रित कर सकी हैं जबकि 'एक कहानी यह भी' में अपने आक्रामक रवैये के बावजूद भी मन्नू भण्डारी ऐसा नहीं कर सकी। स्त्री के लिए सामाजिक छवि की चिन्ता जितनी चन्द्रकिरण मे है उतनी मन्नू भण्डारी में नहीं। चन्द्रकिरण का व्यक्तित्व सामाजिक छवि से आक्रान्त रहा। चन्द्रकिरण की समझौतावादी मानसिकता का एक कारण सामाजिक छवि को लेकर अधिक सजग होना है। मन्नू भण्डारी में सामाजिक छवि की तुलना में स्त्री का अस्तित्व बोध अधिक स्पष्ट रूप से आया है। मन्नू भण्डारी में तमाशा बनने या बनाने की चिन्ता नहीं है। यहां अपनी इच्छा सर्वोपरि है। मन्नू भण्डारी स्वीकार करती है ''इसमें कोई सन्देह नहीं कि अगर मैं राजेन्द्र के साथ रही तो उनके प्रति अपने गहरे लगाव के कारण रही ओर यदि अलग हुई तो अपनी मुक्ति के लिए।''[27]

'एक कहानी यह भी' पुरुष वर्चस्व के साथ–साथ पुरुष के छल को राजेन्द्र यादव के व्यक्तित्व के माध्यम से उजागर करती है। राजेन्द्र यादव के लिए पत्नी और प्रेमिका के अलग–अलग मायने पुरुष जीवन की असलियत है। बकौल मन्नू भण्डारी राजेन्द्र यादव कहते हैं– ''यह सही है कि प्रेम मेरा उसी से रहा पर घर बसाने के लिए वह ठीक नहीं थी क्योंकि वह बहुत ही दबंग, अक्खड़ और डॉमिनेटिंग है– (इन तीनों विशेषणों पर तो पुरुषों का एकाधिकार है ये ही तो उनके व्यक्तित्व में निखार लाते हैं। पर इन्हीं विशेषताओं के चलते स्त्री तो साथ रहने लायक ही नहीं रहती। वाह रे स्त्री–विमर्श के पुरोधा)।'' मन्नू भण्डारी के प्रतिरोध की जगह चन्द्रकिरण की विवशता में स्त्री की पीड़ा अधिक सहज रूप में सामने आई है। मन्नू भण्डारी की अपनी स्वतंत्र पहचान है। साहित्य के क्षेत्र में वह पति के बराबर प्रसिद्ध हैं। वह गुमनामी के दौर में नहीं जी रही है। सबसे बड़ी बात यह है कि पत्नी के लिए अनेक समस्याओं का कारण होते हुए भी राजेन्द्र यादव लेखन के क्षेत्र में मन्नू भण्डारी के सबसे बड़े सहयोगी बने रहे। लेखन के लिए प्रोत्साहित करते रहे। राजेन्द्र यादव में पत्नी की सफलता से ईर्ष्या नहीं है।

---

[27] मन्नू भण्डारी, 'एक कहानी यह भी', राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 199

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के जीवन में न अपनी स्वतंत्र पहचान है और न ही साहित्य के क्षेत्र में प्रसिद्धि। चन्द्रकिरण की आरम्भिक सफलता पर पति की असफलता अधिक भारी पड़ी। पति ने पत्नी को प्रतिद्वन्द्वी के रूप में देखना शुरू कर दिया। कभी धौंस के सहारे तो कभी छल के सहारे पत्नी को गुमनामी के कगार पर ला खड़ा किया। रचना धर्म और पत्नी धर्म के बीच फंसी स्त्री अपनी कोशिशों के बावजूद हार गई। पति की कुंठा पत्नी पर किस प्रकार हावी हो गई, चन्द्रकिरण के शब्दों में ''साहित्य सम्मेलनों में कांति जी की कभी प्रबंन्धकों से, कभी कार्यक्रम–संचालकों से, झड़प हो ही जाती है। साथ में, अगर मैं होती थी तो स्थिति और भी अप्रिय बन जाती, इसीलिए मैं 'इनके' साथ जाने से बचने लगी। ... वस्तुस्थिति से समझौता करने में ही बुद्धिमानी है– सो धीरे–धीरे जो यदा–कदा बाहर जाती भी थी वह बन्द हो गया।''[28] पत्नी धर्म निभाती लेखिका को पति से क्या मिला ''पहले तो यह छल कि प्रकाशक तुम्हें ठग लेंगे और बाद में साहित्य में गुमनामी का संकेत–कोई साला प्रकाशक तुम्हें पूछता नहीं तो मैं क्या करूं।''[29] पत्नी के खिलाफ खोला मोर्चा प्रकाशकों से लड़ने–झगड़ने तक पहुंच गया। पत्नी अगर किसी प्रकार पुस्तक प्रकाशन में सफल भी हुई तो पति के द्वारा बदनामी की पीड़ा झेलकर। बकौल चन्द्रकिरण ''बस मेरी कहानी की किताब का छपना–कांति जी के लिये प्रतिशोध लेने का एक कारण बन गया। उन्हें चन्द्रकिरण सौनरेक्सा को बदनाम करने का बहाना मिल गया। लखनऊ में अपने जानने वालों को यही कहा कि अपने पुराने सम्बन्धों के कारण विष्णु जी (विष्णु प्रभाकर) ने मेरी पत्नी की पुस्तक छपवाई।''[30]

'एक कहानी यह भी' क्या छोड़ूं, क्या कहूँ की कशमकश के बीच लिखी गई आत्मकथा है। मन्नू भण्डारी में स्त्री का सहज स्वाभाविक प्रतिरोध नहीं है। यहां प्रतिरोध, प्रतिवाद की शक्ल ले लेता है। 'एक कहानी यह भी' अनुभूत सत्य को कहने की पहल नहीं, पहल की प्रतिक्रिया है। स्वयं मन्नू भंडारी के शब्दों में

---

[28] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 390
[29] वही, पृ. 409
[30] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 411

''हो सकता है कि राजेन्द्र भी इससे आहत हो लेकिन समय और स्थितियों ने जिन घावों पर पपड़ियां जमा दी थी उन्हें खुरचने की पहल तो राजेन्द्र ने ही की– अपने आत्मकथ्य में इस प्रसंग को उजागर करके, सो भी अपने नजरिए से– ये शायद भूल ही गए कि खुरचे हुए घावों से तो केवल मवाद ही बहेगा।''[31] प्रतिवाद और प्रतिक्रिया का स्वर जहां तीव्र हुआ वहां आत्मकथा की रचनात्मकता बाधित भी हुई है। मन्नू भंडारी का मीता के प्रति उदार न हो पाना इसी का कारण है। अन्यथा मीता का व्यक्तित्व भी स्त्री की वेदना और पीड़ा की गवाही है। मीता राजेन्द्र यादव के जीवन में मन्नू से पहले आई थी। राजेन्द्र यादव के छल का शिकार तो जितनी मन्नू हुई उतनी मीता भी। 'पिंजरे की मैना' में स्त्री जीवन की पीड़ा और संघर्ष में से पीड़ा वाला पक्ष अधिक स्पष्ट रूप में सामने आया है। चन्द्रकिरण अपने सच को कहते समय किसी कशमकश की शिकार भी नहीं है। चन्द्रकिरण ने अपनी पीड़ा को एक स्त्री की विवशता की तरह देखा है। चन्द्रकिरण पति से सम्बन्ध रखने वाली किसी भी स्त्री के प्रति कटु नहीं हो पाई। पुरुष प्रधान समाज में स्त्री जीवन की यह बड़ी सच्चाई है। इस दृष्टि से 'एक कहानी यह भी' की तुलना में 'पिंजरे की मैना' अधिक रचनात्मक आत्मकथा है।

'पिंजरे की मैना' में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने भाषा और शिल्प के माध्यम से व्यापक जीवन को अभिव्यक्त किया है। चन्द्रकिरण अपने जीवन की हर छोटी–मोटी घटना से पाठक को रू–ब–रू कराना चाहती हैं। इसकी वजह से कहीं–कहीं आत्मकथा में अनावश्यक विस्तार आ जाता है। फिर भी भाषा की सहजता और सरलता की दृष्टि से 'पिंजरे की मैना' का खास महत्व है।

'एक कहानी यह भी' में मन्नू भण्डारी अपनी रचना यात्रा और राजेन्द्र यादव के साथ सम्बन्धों के टकराव को आत्मकथा में अभिव्यक्त करती हैं। भाषा और शिल्प की दृष्टि से देखा जाए तो अपनी रचनायात्रा के बारे में लिखते समय मन्नू भण्डारी की भाषा अधिक साहित्यिक रहती है। पति के साथ सम्बन्धों को लेकर लिखते समय भाषा अधिक सांकेतिक और व्यंग्यपूर्ण हो जाती है। 'पिंजरे की मैना'

[31] मन्नू भण्डारी, 'एक कहानी यह भी', राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 227

में जहां अनावश्यक विस्तार की समस्या है वहीं 'एक कहानी यह भी' में आवश्यक के छिपाव की।

पति से शिकायत चन्द्रकिरण को भी है और मन्नू भण्डारी को भी। पत्नी होने की पीड़ा चन्द्रकिरण ने भी भोगी है तो मन्नू भण्डारी ने भी। चन्द्रकिरण जहां अपनी विवशता को स्त्री की नियति मान गई वहीं मन्नू भण्डारी ने पुरुष मानसिकता पर वाजिब सवाल उठाएं हैं। बकौल मन्नू भण्डारी ''वैवाहिक सम्बन्ध की गरिमा का निर्वाह न कर पाने वाले व्यक्ति के लिए विवाह संस्था के विरुद्ध झंडा उठाए फिरना वाजिब ही नहीं अनिवार्य भी है, लेकिन फिर विवाह किया ही क्यों।''[32] स्त्री जीवन की पीड़ा और संघर्ष के विविध स्वरूप को जानने समझने में 'एक कहानी यह भी' और 'पिंजरे की मैना' का अपना विशिष्ट महत्व है। अपनी सीमाओं–शक्तियों के साथ दोनों आत्मकथाएं स्त्री प्रतिरोध की संस्कृति के निर्माण में सहायक रही है। वैयक्तिक जीवन की कथा होते हुए भी संवेदना के स्तर पर व्यापक स्त्री समुदाय का प्रतिनिधित्व इन आत्मकथाओं में महसूस किया जा सकता है। कहीं प्रतिरोध की तीव्रता तो कहीं विवशता की सघनता के माध्यम से अभिव्यक्त स्त्री जीवन का सच इनको अधिक रचनात्मक और साहित्यिक आत्मकथाएं बनाता है।

(iii) 'गुड़िया भीतर गुड़िया' और 'पिंजरे की मैना'

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा 'गुड़िया भीतर गुड़िया' उनके आत्मकथात्मक उपन्यास 'कस्तूरी कुण्डल बसै' की अगली कड़ी है। मैत्रेयी पुष्पा ने 'कस्तूरी कुण्डल बसै' में अपनी माँ के जीवन संघर्ष को और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में स्वयं के रचना संघर्ष को अभिव्यक्त किया है। मैत्रेयी की मां कस्तूरी ने स्त्री जीवन को एक नया रूप दिया। कस्तूरी उन सब मान्यताओं को अस्वीकार करती हैं, जो स्त्री को कमजोर, विवश और लाचार बनाती है। वह ऐसे रिश्तों का भार ढोने को तैयार नहीं जिनकी ओट में स्त्री का शोषण होता रहे। कस्तूरी विवाह के सम्बन्ध में अपने अनुभव के आधार पर बेटी मैत्रेयी को विवाह संस्था से दूर रखना चाहती है। कस्तूरी ने

[32] मन्नू भण्डारी, 'एक कहानी यह भी', राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 226

विवाह के नाम पर होने वाले व्यापार की पीड़ा को भोगा है। अब उसकी हर कोशिश अपनी बेटी को इस दुष्चक्र से बचाने की है। वह अपना प्रतिरोध अपनी बेटी के माध्यम से जताना चाहती है– "लेकिन अब मेरी बेटी का मामला है, मेरी कोख से जन्म लेने वाली मैत्रेयी का। मैं उसको उस खड्ड में नहीं गिरने दूंगी, जिसमें गिरकर औरत जीवन भर निकलने को छटपटाती रहती है और एक दिन खत्म हो जाती है।"[33] कस्तूरी ने विधवा जीवन की पीड़ा भी भोगी है तो लड़की की मां होने के ताने भी सुने हैं। कस्तूरी हर पल स्त्री को स्त्री होने की याद दिलाने वाले समाज के लिए अपनी बेटी का जीवन बर्बाद नहीं करना चाहती। कस्तूरी सामाजिक विवशता का रोना नहीं रोती, वह चुनौती को स्वीकार करती है और असलियत को सामने लाती है "यह है उनका समाज! इस समाज में वे मनुष्य तो क्या औरत भी नहीं, रांड है, विधवा, बस। ऊपर से निपूती। साख के लिए कोई रूंख तो क्या, कोंपल तक नहीं। पुरुषों जैसे काम करने से पुरुष जैसी नहीं मान ली जाती है स्त्री। सामाजिक कामों के चलते उसे किसी पुरुष की जरूरत होती है, भले वह पाँच या दो साल का हो।"[34]

कस्तूरी स्त्रीत्व को स्त्री शक्ति के रूप में देखती है। वह विवाह को स्त्रीत्व को कमजोर करने वाली संस्था मानती है। कस्तूरी बेटी मैत्रेयी को यही शिक्षा देती है "यह बात गांठ बांध ले कि मर्द की जात से होशियार रहकर चलना होता है, भले ही वह साठ साल को बूढ़ा हो।"[35] कस्तूरी अपनी बेटी में स्त्री शक्ति का प्रतिबिम्ब देखना चाहती है। कस्तूरी उस हर चीज को हटा देना चाहती है जो स्त्री विवशता के प्रतीक के रूप में देखी जाती है। मैत्रेयी अब माँ से शादी करने की बात कहती हैं तो कस्तूरी बेटी के इस प्रस्ताव को स्त्री शक्ति को खोने की तरह लेती हे।

कस्तूरी ने विधवा होकर 'विधवा कर्तव्य' नहीं पढ़े। उसने वह शिक्षा प्राप्त की जो औरत को विकास के पथ पर ले जा सके। अपने स्त्री जीवन के बल पर

---

[33] मैत्रेयी पुष्पा, 'कस्तूरी कुण्डल बसै', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 62
[34] मैत्रेयी पुष्पा, 'कस्तूरी कुण्डल बसै', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 72
[35] मैत्रेयी पुष्पा, 'कस्तूरी कुण्डल बसै', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 53

कस्तूरी ने वह कर दिखाया जिस पर सिर्फ पुरुष का ही अधिकार माना जाता रहा है। कस्तूरी ने मैत्रेयी को ऐसे संस्कार दिये जो स्त्री को झुकने की नहीं लड़ने की प्रेरणा देते हैं। कस्तूरी का प्रतिरोध उस स्त्री का प्रतिरोध है जो गुलामी की नियति को स्वीकारने में नहीं उसे बदलने में विश्वास करती है।

मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी आत्मकथा 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में स्त्री समस्या पर नवीन दृष्टि से विचार किया है। मैत्रेयी पुष्पा की शादी डॉक्टर से होती है। वह पति के साथ अलीगढ़ से दिल्ली आ जाती है। यहीं से शुरू होता है एक रचनाकार के रूप में मैत्रेयी पुष्पा का जीवन संघर्ष।

मैत्रेयी पुष्पा के पति समानान्तर जिन्दगी के पैटर्न में विश्वास करने वालों में नहीं हैं। वे पत्नी के प्रति सहयोग की मानसिकता रखते हैं। मैत्रेयी पुष्पा 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में समाज में स्त्री के साथ होने वाले लिंगभेद का मुद्दा उठाती हैं। तीन बेटियों की मां को बेटा न होने पर अपने ही परिवार वालों की जिस उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है वह न केवल एक स्त्री की समस्या है अपितु पूरे स्त्री समुदाय के जीवन का सच है। मैत्रेयी पुष्पा भाग्यशाली रही है कि उनके पति ने हर संकट में पत्नी का साथ दिया।

'गुड़िया भीतर गुड़िया' में मैत्रेयी पुष्पा ने अपने रचना संघर्ष के माध्यम से साहित्यिक समाज की सच्चाई सामने रखी हैं। स्त्री रचनाकार के रूप में मैत्रेयी पुष्पा ने न केवल पुरुष मानसिकता से संघर्ष किया अपितु स्त्री रचनाकारों द्वारा उनको बदनाम करने की पीड़ा भी झेली है। बकौल मैत्रेयी पुष्पा "घृणा के मगरमच्छ के जबड़े में कसी लेखिकाएं कराह–कराह कर मुझे कोस रही हैं। नुक्ताचीनी कर रही हैं। मुझे अज्ञानी मानकर पुराने जमाने की माँ–दादियों की तरह बता रही हैं कि मुझे क्या करना था, क्या नहीं। मुझे उनकी सीख से इनकार नहीं करना चाहिए। नहीं तो देशभर में वे मुझे बदनाम कर देंगी।"[36]

'गुड़िया भीतर गुड़िया' और 'पिंजरे की मैना' को तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो दोनों आत्मकथाओं में स्त्री के रचना संघर्ष को मुख्य मुद्दा बनाया गया है।

---

[36] मैत्रेयी पुष्पा, 'गुड़िया भीतर गुड़िया', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 344

यह बात जरूर है कि एक गुमनामी की पीड़ा के साथ आत्मकथा लिख रही है तो दूसरी साहित्य में अपनी पहचान की आश्वस्ति के बाद लिख रही है। मैत्रेयी पुष्पा का संघर्ष बाहरी दुनिया से शुरू होता है, इसलिए वह इस संघर्ष में सफल भी हुई हैं।

चन्द्रकिरण सौनरैक्सा का संघर्ष घर की चार–दीवारी से बाहर निकल नहीं पाया। चन्द्रकिरण के खिलाफ तो पति मोर्चा खोले हैं। चन्द्रकिरण के लिए लेखन का अर्थ पति के साथ टकराव है। यही कारण है कि रिश्तों को टूटने से बचाने की कोशिश में चन्द्रकिरण में प्रतिरोध कम और विवशता अधिक है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा स्त्री जीवन की समस्याओं पर व्यापक दृष्टि से विचार करती हैं। चन्द्रकिरण के व्यक्तित्व में पुरुष वर्चस्व की शिकार स्त्री की विवशता स्पष्ट देखी जा सकती है। स्त्री होने के नाते किये गये समझौते पुरुष प्रधान समाज की असलियत को उजागर करते हैं।

'गुड़िया भीतर गुड़िया' में मैत्रेयी पुष्पा ने स्त्री अधिकारों के सम्बन्ध में जो भी मुद्दे उठाये हैं वे वैचारिक अधिक हैं और अनुभूतिपरक कम। यही कारण है कि आत्मकथा कहीं–कहीं साहित्यिक निबन्ध की तरह लगती है जिसमें सच तो होता है परन्तु अपने से कहने को कुछ नहीं। जबकि चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा में 'आत्म' प्रधान है। वह अपने अनुभूत जीवन को बिना किसी लाग–लपेट के अभिव्यक्त कर रही है। मैत्रेयी पुष्पा की समस्या आम स्त्री से नहीं जुड़ पाती है। मैत्रेयी के संघर्ष का सामान्यीकरण नहीं हो पाता है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा इस दृष्टि से अधिक सफल है। चन्द्रकिरण का दर्द आम स्त्री के दर्द के अधिक करीब है। 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में मैत्रेयी पुष्पा का कही–कहीं उपदेशक की भूमिका में उतरना आत्मकथा के प्रभाव को कम करता है। मैत्रेयी लिखती हैं– ''यदि कोई पति अपनी पत्नी की कोमल भावनाओं को कुचलकर खत्म करता है तो पत्नी को पतिव्रत नियमों का उल्लंघन हर हालत में करना होगा।''[37] 'पिंजरे की मैना' में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा स्त्री जीवन के सच को

---

[37] मैत्रेयी पुष्पा, 'गुड़िया भीतर गुड़िया', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 615

अपनी अनुभूति के आधार पर व्यक्त करती है। चन्द्रकिरण लिखती है– "अकड़ भी तब चलायी जाती है जब किसी का ठिकाना हो मजबूत। उसमें भी अगर दोनों पक्ष एक–दूसरे की अक्ल ही ठिकाने लगाते रहे तो रिश्ते न बने रहे। यह तो शाश्वत सत्य है– सारी दुनिया में झुकना औरत को ही पड़ता है।"[38]

पारिवारिक उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध में स्त्री की चिन्ता दोनों आत्मकथाओं में समान स्तर पर देखी जा सकती है। पुरुष द्वारा अपने बच्चों के सम्बन्ध में गैर जिम्मेदार रवैया पत्नी के लिए समस्या की तरह होता है। बकौल मैत्रेयी पुष्पा "सबसे ज्यादा गुस्सा इस समय पति पर था। यह आदमी बच्चों के मामले में इतना लापरवाह है, जैसे बच्चे इसके हैं ही नहीं, मैं यहां वहां से ले आई हूँ।"[39] चन्द्रकिरण पति के दुर्व्यवहार के बारे में लिखती हैं "मैं अभिशाप देता हूं कि तुम जीवन भर भीख मांगोगी, तुम्हारे लड़के बेयरे बनकर होटलों की जूठन खायेंगे और तुम्हारी लड़कियां कोठों पर बैठेंगी। मैं अब लखनऊ आऊंगा तो कहीं और ठहरूंगा। तुम्हारे हाथ का खाना तो दूर, कभी पानी भी नहीं पियूँगा।"[40] विचारणीय बात यह है कि पुरुष अपने उत्तरदायित्वों का पालन न करके भी परिवार पर अपनी धौंस जमाए रखने में सफल रहता है। स्त्री परिवार के लिए अपना जीवन दांव पर लगा कर भी न्यायोचित अधिकार प्राप्त नहीं कर पाती है।

'गुड़िया भीतर गुड़िया' में मैत्रेयी पुष्पा ने राजेन्द्र यादव के साथ अपने सम्बन्धों को लेकर साहित्यिक समाज में उठे बवाल पर सफाई दी है। आत्मकथा के 'एक सौ पृष्ठ' उन्होंने राजेन्द्र यादव का आभार जताने और इससे सम्बन्धित घटनाओं को बताने में खर्च कर दिये। इसे मैं आत्मकथा की कमजोर कड़ी ही कहूँगा। पाठक के लिए यह अनावश्यक विस्तार के सिवा और कुछ नहीं। राजेन्द्र यादव के बारे में लिखते समय मैत्रेयी पुष्पा आत्मकथा की राह छोड़कर जीवनी की डगर पर चल पड़ती हैं। अपने सम्पर्क में आए साहित्यकारों के बारे में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा भी लिखती हैं परन्तु आत्मकथा के प्रति पाठक के इन्ट्रेस्ट को बनाये

---

[38] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 248
[39] मैत्रेयी पुष्पा, 'गुड़िया भीतर गुड़िया', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 85
[40] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 339

रखने में सफल रहती हैं। चन्द्रकिरण 'आत्म' के माध्यम से 'अन्य' की बात तो करती है पर 'अन्य' को 'आत्म' पर हावी नहीं होने देती। शिल्प की दृष्टि से यह 'पिंजरे की मैना' की बड़ी सफलता है। आभार प्रकट करने के चक्कर में 'गुड़िया भीतर गुड़िया' का शिल्प यहां कमजोर हुआ है।

अपनी शक्ति और सीमाओं के साथ 'गुड़िया भीतर गुड़िया' और 'पिंजरे की मैना' आत्मकथा साहित्य में विशिष्ट स्थान रखती है। स्त्री जीवन की पीड़ा और संघर्ष को जानने–समझने में इनकी विशिष्ट भूमिका है। दोनों ही आत्मकथाएं स्त्री जागरण के संकेत के रूप में देखी जानी चाहिए।

उपसंहार

आत्मकथा साहित्य की सर्वाधिक लोकतांत्रिक विधा है। आत्मकथा साहित्य को विशिष्ट की संस्कृति से अलगाकर अधिक सृजनात्मक रूप प्रदान करती है। अनुभूत जीवन सत्य की अभिव्यक्ति ही आत्मकथा की पहली शर्त है। आत्मकथा का आशय स्वप्नलोक में विचरण नहीं बल्कि यथार्थ की भूमि पर उतरना है। आत्मकथा जितनी दूसरों के लिए लिखी जाती है उतनी ही अपने लिए भी लिखी जाती है। आप दूसरों से भाग सकते हो पर अपने आप से नहीं। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के शब्दों में कहें तो ''आत्मकथा में कथाकार अपनी खबर तो लेता ही है, अपनी खबर देता भी है।''

आत्मकथा के कलेवर में दोहरी क्रान्ति लाने की शक्ति रहती है। वह साहित्य की संस्कृति को तो बदलती है, समाज की संस्कृति को भी। आत्मकथा में सृजनात्मक साहित्य के सौन्दर्य और सौन्दर्य की सामाजिक उपयोगिता का अद्‌भुत मिश्रण रहता है। आत्मकथा अपने आपको समझने की ओर उन्मुख एक सच्चा और गम्भीर आत्मपरीक्षण है। आत्मकथा जीवन की सार्थकता की चाह और खोज का साहित्यिक रूप है। आत्मकथा लेखन जीते जी अपना ताजमहल बनाने की कोशिश नहीं है। वह आत्म संशय से मुक्ति और अपने संघर्ष की अभिव्यक्ति के लिए किया गया ईमानदार प्रयास है। मुन्शी प्रेमचन्द के शब्दों में ''एक आदमी अपने जीवन के तत्व आपके सामने रखता है, अपनी आत्मा के संशय और संघर्ष लिखता है, आपसे अपनी बीती कहकर अपने चित्त को शांत करना चाहता है, आपसे अपील करके अपने उद्योगों के औचित्य पर राय लेना चाहता है।''

आत्मकथा लेखन जितना सहज सरल है उतना ही चुनौतीपूर्ण भी। अपने निजी जीवन को सार्वजनिक करने का साहस हर किसी में नहीं हो सकता। आत्मकथा का विकास खुले समाज और खुली संस्कृति में ही संभव है। जहां सामाजिक छवि के ढोल पीटे जाते हैं, हर व्यक्ति अपने असली रूप को छिपाकर सामाजिक होने का दावा करता है वहां आत्मकथा जैसी विधा का विकास न हो तो आश्चर्य नहीं। जहां 'अनामता' की दुहाई और परम्परा में नहीं तो वर्तमान में

नहीं' का राग अलापा जाता है, वहां आत्मकथा का विकास कैसे होगा? भारतीय साहित्य में आत्मकथा की संस्कृति के अभाव को इसी सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए तथा आत्मकथा लेखन की शुरूआत को परिवर्तन का संकेत माना जाना चाहिए।

हिन्दी आत्मकथा की शुरूआत पुरुष लेखकों द्वारा हुई परन्तु आत्मकथा की दृष्टि और दिशा में परिवर्तन स्त्रियों और दलितों की आत्मकथाओं के माध्यम से आया। आत्मकथा को 'मैं' की केन्द्रीयता से मुक्त करने में स्त्री और दलित लेखकों की विशिष्ट भूमिका रही है। स्त्री और दलित लेखकों ने आत्मकथा को व्यक्तिवाद से मुक्त कर इसमें सामाजिकता का विस्तार किया। दलितों और स्त्रियों की आत्मकथाएं निजीवृत्तांत भर नहीं है। उनमें उनका पूरा समाज, परिवेश और संस्कृति विद्यमान है। स्त्री और दलित लेखकों की आत्मकथाओं को व्यापक स्तर पर पाठक की स्वीकृति मिलना यह सिद्ध करता है कि आत्मकथा आज हाशिए के लोगों की अभिव्यक्ति का सबसे प्रबल साहित्यिक रूप है।

आत्मकथा लेखिकाओं ने आत्मकथा को पूरे समुदाय की कथा का रूप दिया। पुरुष प्रधान समाज में स्त्री के उत्पीड़न और शोषण को सामने लाने का प्रयास किया। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा 'कस्तूरी कुण्डल बसै', 'गुड़िया भीतर गुड़िया', प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या', मन्नू भण्डारी की 'एक कहानी यह भी' और चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की 'पिंजरे की मैना' जैसी आत्मकथाएं स्त्री जीवन के सच को अभिव्यक्त करती हैं। इन आत्मकथाओं में लिंगभेद और रंगभेद की शिकार स्त्री की पीड़ा भी है और इसके खिलाफ प्रतिरोध का स्वर भी। स्त्री आत्मकथाओं में मुक्ति के लिए छटपटाती स्त्री का जीवन भी है और घर–परिवार के लिए खपती–पचती स्त्री की दिनचर्या भी।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' गुमनामी के दौर में जी रही स्त्री की सच्ची दासतां है। पति के अहं के दंश को झेलती स्त्री इतनी विवश और लाचार हो जाती है कि उसका प्रतिरोध समर्पण में बदल जाता है। गैर बराबरी के समझौतों में ही उसे बुद्धिमानी नजर आती है। पति की इच्छा ही उसके लिए सर्वोपरि है। घर–परिवार की जिम्मेदारियों का भार स्त्री ढो रही है और अधिकार पुरुष के हाथ में हैं। चन्द्रकिरण का साहित्य क्षेत्र में सफल प्रवेश पति के

लिए ईर्ष्या का कारण बन जाता है। एक ही अभिरुचि के कारण साहित्य में पत्नी की पहचान पति के लिए असहनीय हो जाती है। वह पत्नी को बदनाम करना शुरू कर देता है। पुरुष मानसिकता की कुत्सित वृत्ति सक्रिय हो जाती है "तुमने भी कहानी भेजते समय पत्र में कुछ न कुछ तो लिखा ही होगा जरूर उसके चूतड़ों में घी मला होगा।" यहीं से पत्नी की प्रतिभा पर ग्रहण लगना शुरू होता है। पत्नी रिश्तों को बचाने के प्रयास में जीवन भर पति के छल–कपट का शिकार होती रहती है। अपने त्याग और समर्पण के बदले उसे मिलती है पीड़ा और गुमनामी की जिन्दगी। पुरुष दम्भ के आगे पत्नी का आदर्शवाद हार जाता है। शेष बचती है स्मृतियां जिनमें भरी होती हैं तिलमिला देने वाली वेदना। समय निकल गया और दे गया कभी न खत्म होने वाले पश्चाताप का दर्द। अपने अप्रकाशित साहित्य को देखकर न जाने कैसी रही होगी गुमनामी की पीड़ा– "मैने दूसरा निश्चय किया कहानी लिखूंगी, पर इन्हीं को पकड़ा दूंगी– फिर 'ये' चाहे प्रकाशन के लिये भेजें– मेरा कोई सीधा सम्पर्क नहीं रहेगा। न सम्पादक के पत्र आयेंगे, न ये झगड़े होंगे।" आज अपना यही निश्चय पीड़ा के स्वर में कराह उठता है। "शायद यही आदर्शवादी पतिव्रता पत्नी का निर्णय था जिसकी कीमत मेरे पूरे साहित्यिक जीवन ने चुकाई और लगभग गुमनामी के कगार पर अभिशप्त सरस्वती के वरदान सी मैं खड़ी हूँ।"

'पिंजरे की मैना' स्त्री के संघर्ष और विवशता की कथा है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने स्त्री जीवन से सम्बन्धित मुद्दों पर अपने अनुभूत सत्य को सामने रखा है। दैनिक जीवन की समस्याओं से लेकर साहित्यिक क्षेत्र के अनुभवों तक का ब्यौरा 'पिंजरे की मैना' में अभिव्यक्त हुआ है। चन्द्रकिरण ने पत्नी के रूप में अपनी विवशता के साथ–साथ पति की व्यभिचारी प्रवृत्ति पर खुलकर लिखा है। 'पिंजरे की मैना' में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने उन मुद्दों को उठाया है जो स्त्री के प्रतिरोध के स्वर को मंद करते हैं। चन्द्रकिरण सवाल करती है कि नैतिक मानदण्ड स्त्रियों पर ही क्यों लादे जाते हैं? देह की पवित्रता के नियम स्त्री की भांति पुरुष पर क्यों नहीं लागू होते? धर्म ग्रन्थ स्त्रियों को ही पुरुष के अधीन रहने का आदेश क्यों देते हैं? क्या यह सब स्त्री को नैतिक रूप से कमजोर कर गुलाम बनाने के हथकण्डे

नहीं हैं। स्त्री स्वतंत्रता के सम्बन्ध में तमाम नारेबाजी के बाद भी स्त्री क्यों कोख के अंधेरे से कब्र के अंधेरे में विलीन हो जाने को अभिशप्त है? स्त्री को जीवन भर क्यों ऐसे पुरुष के साथ रहना पड़ता है जिसके साथ अक्सर उसकी अस्मिता टकराती है।

'पिंजरे की मैना' में मुक्ति की छटपटाहट नहीं है। चन्द्रकिरण पुरुष से मुक्ति नहीं, पुरुष के साथ सुख–दुख का साझा चाहती हैं। वह घर–परिवार और बाहरी दुनिया के बीच सन्तुलन बनाने की कोशिश करती हैं। चन्द्रकिरण स्त्री के लिए गैर–जिम्मेदारी भरा संसार नहीं, उत्तरदायित्वों के साथ स्वतंत्र अधिकारों की दुनिया चाहती हैं। चन्द्रकिरण को स्त्रीत्व से शिकायत नहीं है, स्त्रीत्व की आँसू भरी नियति को स्वीकारने से शिकायत है। वह मुक्ति का अर्थ सैक्स की आजादी को नहीं, समाज में पुरुष के बराबर अधिकार प्राप्त करने को मानती हैं। चन्द्रकिरण के लिए देह की मुक्ति मुद्दा नहीं है, सबसे बड़ा मुद्दा है स्त्री द्वारा समाज में अपना न्यायोचित मुकाम हासिल करना। चन्द्रकिरण समाज से कटकर स्वतंत्र अस्तित्व के पश्चिमी मॉडल के स्थान पर समाज में रहकर अस्तित्वबोध के भारतीय मॉडल का समर्थन करती हैं।

स्त्री आत्मकथाएं पुरुष के आधुनिक जीवन पैटर्न से उपजी समस्याओं पर विचार करती हैं। मन्नू भण्डारी की आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' में पति राजेन्द्र यादव का समानान्तर जिन्दगी का पैटर्न अपनी असलियत में सामने आया है। बच्चों के पालन पोषण का उत्तरदायित्व पत्नी पर डाल देना और अपने लिए ऐयाशी भरा मुक्त जीवन। यही है आधुनिक पुरुष की आधुनिक जिन्दगी का आधुनिक पैटर्न। अपने आधुनिक होने के नाम पर वह पत्नी को कमाने की आजादी तो दे सकता है पर खर्च करने की नहीं। प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' में स्त्री को सुरक्षा देने का दावा करने वाली पुरुष मानसिकता की पोल खुल जाती है। जो स्त्री देह के रक्षक बने बैठे हैं वही उसके भक्षक बन जाते हैं। रिश्तेदारी की आड़ में स्त्री देह के साथ खिलवाड़ यही है परिवार संस्था की असलियत। 'अन्या से अनन्या' में प्रभा खेतान मुद्दा उठाती है कि उत्पीड़न के बावजूद औरत से खामोश रहने को क्यों कहा जाता है? स्त्री देह को सामाजिक

उपभोग की वस्तु की तरह क्यों देखा जाता है? क्या स्त्री की भावनाओं और संवेदनाओं का कोई मूल्य नहीं? मैत्रेयी पुष्पा 'कस्तूरी कुण्डल बसै' में विवाह संस्था के नाम पर स्त्री के व्यापार का मुद्दा उठाती हैं। क्यों लोटे–बर्तन के बदले स्त्री को दूसरों के हाथों में सौंप दिया जाता है? हर कोई क्यों स्त्री की असहाय स्थिति का फायदा उठाने को तैयार रहता है? स्त्री होने की सजा वह जगह–जगह क्यों पा रही है? मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी आत्मकथा 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में लिंगभेद के विरुद्ध स्त्री का प्रतिरोध प्रकट किया है। मैत्रेयी सवाल करती है कि आज तक किसी मंदिर की मुख्य पुजारिन, किसी धर्मपीठ की शंकराचार्य, चर्च में पोप और मस्जिद में काजी के रूप में किसी स्त्री की नियुक्ति क्यों नहीं की गई? चन्द्रकिरण सौनरेक्सा 'पिंजरे की मैना' में पुरुष के दोहरे चरित्र का मुद्दा उठाती हैं। चन्द्रकिरण जानना चाहती है कि दूसरी स्त्रियों के साथ अपने सम्बन्धों की बातें चटखारे लेकर सुनाने वाला पति, पत्नी के सामान्य सम्बन्धों को लेकर भी इतना सनकी क्यों हो जाता है? पत्नी पर अपने अधिकार का दावा करने वाला पति, पत्नी की सफलता पर फ्रस्ट्रेट क्यों हो जाता है? स्त्री लेखिकाओं द्वारा उठाये इन मुद्दों में किसी एक स्त्री का प्रतिरोध नहीं, सम्पूर्ण स्त्री समुदाय का प्रतिरोध झलकता है। प्रतिरोध की इस संस्कृति को स्त्री जागरण के रूप में समझे जाने की आवश्यकता है।

आत्मकथा न तो शिकायतों का पुलिन्दा होती है और न ही आत्म प्रशंसा से भरा वृतान्त। अपनी कथा के नाम पर कुछ भी लिख देने से आत्मकथा नहीं हो जाती है। आत्मकथा लिखते समय लेखक को चयनात्मक विधि अपनानी पड़ती है। अपने जीवन के जिस पक्ष को वह सार्वजनिक कर रहा है उसकी सामाजिक उपयोगिता भी होनी चाहिए। इस दृष्टि से देखा जाये तो चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' की कुछ सीमाएं हैं। कहीं–कहीं चन्द्रकिरण अपनी सामाजिक छवि के प्रति अधिक सजग नज़र आती हैं। अपनी विवशताओं के सन्दर्भ में आदर्श पत्नी की बार–बार दुहाई देना कमजोरी को छिपाने के लिए सफाई देने जैसा जान पड़ता है। अपनी आँखों के सामने पति को रंग–रेलियां मनाते देखना फिर भी मौन रहना, दूसरी स्त्री से मिलने जाने के लिए पति का सहयोग करने

को आदर्श पत्नी के कर्तव्य की तरह परिभाषित करना आदि आत्मकथा की कमजोर कड़ियां हैं। आत्मकथा में अपनी विशिष्टता का उद्‌घाटन तो हो सकता है पर विशिष्टता आत्मप्रशंसा के रूप में नहीं आनी चाहिए। चन्द्रकिरण इस दृष्टि से मानवोचित कमजोरी का शिकार रही है। अपने बारे में लिखते समय चन्द्रकिरण कहीं–कहीं अधिक आत्मप्रशंसात्मक हो जाती है। 'पिंजरे की मैना' में अनावश्यक विस्तार के प्रसंग भी हैं। अंगीठी कैसे जलाई, पहली बार सब्जी बनाते समय क्या–क्या किया? बर्तन साफ कैसे होते हैं जैसे प्रसंगों का विस्तार से वर्णन कोई खास औचित्य नहीं रखता है।

अपनी सीमाओं के बावजूद चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' स्त्री जीवन की पीड़ा और संघर्ष को अभिव्यक्त करने की दृष्टि से विशिष्ट पहचान बनाती है। चन्द्रकिरण का व्यक्तित्व जितना शांत और सौम्य है, 'पिंजरे की मैना' की भाषा उतनी ही सहज और सरल।

ग्रंथानुक्रमणिका

आधार ग्रंथ

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा : पिंजरे की मैना
पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8, दरियागंज,
नई दिल्ली 110002, पहला संस्करण, 2008

सहायक ग्रंथ

प्रभा खेतान : अन्या से अनन्या
राजकमल प्रकाशन प्रा.लि.
1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली, 110002, पहली आवृत्ति, 2008

मन्नू भण्डारी : एक कहानी यह भी
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि.
7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली 110002, पहला संस्करण, 2008

मैत्रेयी पुष्पा : कस्तूरी कुण्डल बसै
राजकमल प्रकाशन प्रा.लि.
1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली, 110002, पहला संस्करण, 2009

मैत्रेयी पुष्पा : गुड़िया भीतर गुड़िया
राजकमल प्रकाशन प्रा.लि.
1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली, 110002, पहली आवृत्ति, 2009

सन्दर्भ ग्रंथ

पंकज चतुर्वेदी : आत्मकथा की संस्कृति
वाणी प्रकाशन
21–ए, दरियागंज, नई दिल्ली 110002, प्रथम संस्करण, 2003

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' : अपनी खबर
राजकमल प्रकाशन प्रा.लि.
1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली, 110002, दूसरा संस्करण, 2006

डॉ. रामचन्द्र तिवारी : हिन्दी का गद्य साहित्य
विश्वविद्यालय प्रकाशन
चौक, वाराणसी–221001, पंचम संस्करण, 2006

राधा कुमार : स्त्री संघर्ष का इतिहास (1800–1990)
वाणी प्रकाशन
21–ए, दरियागंज, नई दिल्ली 110002, द्वितीय संस्करण 2004

भारत भारद्वाज : समकालीन सृजन सन्दर्भ
वाणी प्रकाशन
21–ए, दरियागंज, नई दिल्ली 110002, संस्करण, 2006

चन्द्रमोहन अग्रवाल : भारतीय नारी विविध आयाम
श्री अल्मोड़ा बुक डीपो, अल्मोड़ा, संस्करण, 1994

बनारसी दास जैन : अर्ध कथानक (सम्पादक–नाथूराम प्रेमी)
हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा.लि., बम्बई प्रकाशक
यशोधर मोदी, विद्याधर मोदी संशोधित साहित्य माला, ठाकुरद्वार, बम्बई, द्वितीय संशोधित संस्करण, 1957

तसलीमा नसरीन : औरत का कोई देश नहीं (अनुवाद–सुशील गुप्ता)
वाणी प्रकाशन
21–ए, दरियागंज, नई दिल्ली 110002, प्रथम संस्करण, 2009

रेने वेलेक : आलोचना की धारणाएँ
(रूपान्तरण– इन्द्रनाथ मदान)
हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, द्वितीय संस्करण, 1990

डॉ. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास
मयूर पेपरबैक्स
ए–95, सेक्टर–05, नोएडा–201301, तीसवाँ संस्करण 2004

ममता जैतली : आधी आबादी का संघर्ष
श्री प्रकाश शर्मा राजकमल प्रकाशन प्रा.लि.
1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली, 110002, संस्करण, 2009

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा : चंदन चाँदनी
समानान्तर प्रकाशन
7/8, दरियागंज, नई दिल्ली–110002, संस्करण, 2008

डॉ. नारायण विष्णुदत्त शर्मा : हिन्दी आत्मकथा
पुस्तक संस्थान, कानपुर
उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, 1978

डॉ. बैजनाथ सिंहल : हिन्दी विधाएँ: स्वरूपात्मक अध्ययन
हरियाणा साहित्य अकादमी
चण्डीगढ़, प्रथम संस्करण, 1986

डॉ हरिमोहन : साहित्यिक विधाएँ: पुनर्विचार
वाणी प्रकाशन
21–ए, दरियागंज, नई दिल्ली 110002, प्रथम संस्करण, 1997

कैलाशचन्द्र भाटिया : हिन्दी साहित्य की नवीन विधाएँ
यूनाइटेड बुक हाऊस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1979

डॉ. कमलापति उपाध्याय : हिन्दी आत्मकथा साहित्य का शैलीगत अध्ययन
साहित्य रत्नालय, कानपुर
उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, 1992

हेमलता महिश्वर : स्त्री लेखन और समय के सरोकार
नेहा प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2006

सरोज गुप्ता : भारतीय नारी कल, आज और कल
प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण, 2008

डॉ. मैनेजर पाण्डेय : साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका
हरियाणा साहित्य अकादमी
पंचकूला, तृतीय संस्करण, 2006

भारत यायावर : आलोचना के रचना पुरुष: नामवर सिंह
वाणी प्रकाशन
21–ए, दरियागंज, नई दिल्ली 110002, प्रथम संस्करण 2003

पत्र–पत्रिकाएं एवं अन्य सहायक सामग्री

1. आलोचना, प्रधान सम्पादक– नामवर सिंह, सम्पादक– अरुण कमल, सहस्राब्दी अंक पैंतीस, अक्टूबर–दिसम्बर 2009
2. समयान्तर, सम्पादक– पंकज बिष्ट, अक्टूबर 2004
3. हंस, आत्मकथा अंक (सम्पादक–प्रेमचन्द), जनवरी–फरवरी, 1932
4. हंस, संपादक–राजेन्द्र यादव, सितम्बर 2003
5. हंस, संपादक–राजेन्द्र यादव, जुलाई 2004
6. हंस, संपादक–राजेन्द्र यादव, अगस्त 2005
7. हंस, संपादक–राजेन्द्र यादव, मई 2007
8. हंस, संपादक–राजेन्द्र यादव, जून 2007
9. आजकल, वरिष्ठ सम्पादक– योगेन्द्र दत्त शर्मा, सम्पादक– सीमा ओझा, मार्च 2009
10. जनसत्ता, दैनिक रविवारीय, 20 जनवरी 2008 (गुमनामी के दौर में)